

अनेकेश्वरवाद की वास्तविकता

लेखक

मौलाना अमीन अहसन इस्लाही

अनुवादक

रैहान अहमद सिद्दीकी

संपादन एवं संशोधन

मौलाना मुहम्मद फारूक खॉ

मौलाना नसीम गाज़ी फ़लाही

कौसर लईक़

विषय-सूची

| | |
|---|-----|
| कुछ पारिभाषिक शब्दावली | 5 |
| दो शब्द | 9 |
| भूमिका | 13 |
| 1. अनेकेश्वरवाद की वास्तविकता और उसकी किस्में | 17 |
| 2. अनेकेश्वरवादियों का अनेकेश्वरवाद | 21 |
| (i) फ़रिशतों की पूजा | 23 |
| (ii) जिन्नों की पूजा | 28 |
| (iii) नक्षत्र-पूजा | 32 |
| (iv) पितर-पूजा | 36 |
| (v) आत्म-पूजा | 40 |
| 3. अहले-किताब का अनेकेश्वरवाद | 56 |
| (1) धर्माचार्य-पूजा | 59 |
| (2) हज़रत ईसा (अलै०) को रब बनाना | 62 |
| (क) पवित्रता व श्रेष्ठता का दावा | 73 |
| (ख) जिव्त और तागूत पर ईमान | 76 |
| (ग) शिर्क का समर्थन | 78 |
| 4. मुनाफ़िकों का अनेकेश्वरवाद | 81 |
| फ़ैसले के लिए तागूत के पास जाना | 81 |
| 5. पिछले अध्यायों का सारांश | 93 |
| 6. वर्तमान संसार की सामान्य समीक्षा | 98 |
| (1) सुदूर पूर्व के देश | 98 |
| (2) हिन्दुस्तान | 103 |
| (3) पाश्चात्य यूरोप और अमेरिका | 106 |
| (4) रूस | 109 |
| 7. क्या शिर्क मानव-प्रकृति की माँग है? | 110 |
| 8. शिर्क का वास्तविक कारण | 128 |

कुछ पारिभाषिक शब्दावली

किताबवाले (अहले-किताब) — वे लोग जिन्हें ईश्वर की ओर से किताब प्रदान की गई थी। विशेषकर यह संकेत यहूदियों और ईसाइयों की ओर है जिन्हें ईश्वर ने तौरात और इंजील नामक किताबें प्रदान की थीं, लेकिन खेद है कि कालांतर में इनके अनुयायियों ने इन्हें विकृत कर डाला।

कुफ़्र — अधर्म, इनकार, अकृतज्ञता, अवज्ञा। कुफ़्र का शाब्दिक अर्थ है—छिपाना, ढाँकना, परदा डालना।

तौहीद — एकेश्वरवाद। ईश्वर को एक मानना और किसी को उसका साझी और समकक्ष न ठहराना। यही तौहीद तमाम नबियों की शिक्षाओं की आधारशिला रही है। तौहीद केवल एक धारणा ही नहीं है, बल्कि हमारे सम्पूर्ण जीवन पर इसका प्रभाव पड़ता है।

नबी/रसूल — पैग़म्बर, ईशदूत, जो नुबूवत के पद पर नियुक्त किया गया हो, सन्देष्टा। नबी पर ईश्वर की वाणी उतरती है। ईश्वर उसे अपने आदेश से अवगत कराता है। फिर नबी का कर्तव्य यह होता है कि वह लोगों तक ईश्वर का पैग़ाम पहुँचाए। संसार में बहुत-से नबी हुए हैं। सबसे अंतिम नबी हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) हैं।

खुदा के पैग़म्बर या नबी संसार के विभिन्न भागों में आए हैं, उनकी एक बड़ी संख्या है, जिनमें से हम कुछ ही नबियों के नाम से परिचित हैं। नबियों की मौलिक शिक्षाएँ एक ही रही हैं। हर मुसलमान के लिए अनिवार्य किया गया है कि वह सभी नबियों पर ईमान लाए और उनके प्रति अपने हृदय में श्रद्धा और प्रेम बनाए रखे। भले ही उन नबियों में से किसी या किन्हीं के समुदाय के लोग उसके शत्रु ही क्यों न हों, और शत्रुता में वे कितने ही आगे क्यों न बढ़े हुए हों। जैसे— मुसलमान के लिए अनिवार्य है कि वह हज़रत मूसा (अलै०) को पैग़म्बर स्वीकार करे और उनके प्रति आदरभाव रखे, हालांकि हज़रत मूसा (अलै०) को माननेवाले यहूदियों की इस्लाम और मुसलमानों से शत्रुता कोई छिपी हुई बात नहीं है।

मुनाफ़िक (Hypocrite) — कपटाचारी, कपटी, छली, निफ़ाक़ रखनेवाला। ऐसा व्यक्ति जो अपने को मुसलमान कहता हो किन्तु इस्लाम से उसका सच्चा सम्बन्ध न हो। मुनाफ़िक कई प्रकार के हो सकते हैं — (1) वे लोग जो इसलिए मुसलमानों में घुस आए हों और अपने को मुसलमान कहते हों, ताकि वे इस्लाम को अधिक से अधिक हानि पहुँचाने में समर्थ हो सकें। (2) वे जिनका उद्देश्य इस्लाम या मुसलमानों को नुक़सान पहुँचाना तो न हो अलबत्ता मुसलमान केवल इसलिए हुए हों कि वे इहलौकिक और भौतिक लाभ मुसलमानों से उठाएँ और उनका इस्लाम से कोई सम्बन्ध न हो, न उसकी चाह उनके दिल में हो। (3) वे लोग जो शामिल तो हों मुसलमानों ही के गिरोह में किन्तु ईमान उनका बहुत ही कमज़ोर हो। जब कभी भी आज़माइश पेश आए तो वे कमज़ोरी दिखा जाएँ।

मुशरिक — अनेकेश्वरवादी, बहुदेववादी, शिर्क करनेवाला, किसी अन्य को ईश्वर के समकक्ष घोषित करनेवाला।

मुशरिक वह व्यक्ति है जो ईश्वर के अस्तित्व या उसके गुणों या उसके हक़ में दूसरों को साझीदार बनाए। अस्तित्व में साझीदार ठहराने का अर्थ यह है कि किसी से उसको या उससे किसी को उत्पन्न होने की धारणा रखी जाए। उदाहरणार्थ—कोई यह समझने लगे कि जगत की रचना में किसी अन्य देवी-देवता का भी हाथ है या कोई यह मानने लगे कि कुछ और हस्तियाँ भी हैं जो स्वतंत्र अधिकार रखती हैं कि जो चाहे करें, जिसका चाहें काम बना दें और जिसका चाहें बिगाड़ दें।

हक़ और अधिकार में ईश्वर का शरीक ठहराने का मतलब यह है कि जो हक़ और अधिकार ईश्वर का होता है उसमें वह दूसरों को भी साझीदार समझने लगे। जैसे—जगत का स्वामी और स्रष्टा ईश्वर है तो उपासना भी उसी की होनी चाहिए। अब यदि कोई ईश्वर से हटकर किसी दूसरे की बन्दगी और पूजा करता है तो यह ईश्वर के हक़ में दूसरे को शरीक ठहराना होगा। और ऐसा करनेवाले को मुशरिक कहा जाएगा।

शिर्क — अनेकेश्वरवाद। किसी को ईश्वर का शरीक या साझीदार

ठहराना। ईश्वर की सत्ता, उसके गुणों और उसके अधिकारों में किसी को शरीक समझना।

सांकेतिक शब्दार्थ

अलैहि०/अलै० — इसका पूर्ण रूप है, अलैहिस्सलाम यानी 'उनपर सलामती हो !' नबियों और फ़रिश्तों के नाम के साथ यह आदर और प्रेम सूचक शब्द बढ़ा देते हैं।

रज़ि० — इसका पूर्ण रूप है, रज़ियल्लाहु अन्हु इसके मानी हैं, 'अल्लाह उनसे राज़ी हो !' सहाबी के नाम के साथ यह आदर और प्रेम सूचक दुआ बढ़ा देते हैं।

सहाबी — सहाबी उस खुश किस्मत मुसलमान को कहते हैं, जिसे नबी (सल्ल०) से मुलाक़ात का मौक़ा मिला हो। सहाबी का बहुवचन सहाबा है और स्त्रीलिंग सहाबियः है।

रज़ि० अगर किसी सहाबियः के नाम के साथ इस्तेमाल हुआ हो तो रज़ियल्लाहु अन्हा पढ़ते हैं और अगर सहाबा के लिए आए तो रज़ियल्लाहु अन्हुम कहते हैं।

सल्ल०/स० — इसका पूर्ण रूप है, सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम जिसका मतलब है, 'अल्लाह उन पर रहमत और सलामती की बारिश करे।' हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) का नाम लिखते, लेते या सुनते हैं तो आदर और प्रेम के लिए दुआ के ये शब्द बढ़ा देते हैं।

‘बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम’

(अल्लाह के नाम से जो बड़ा कृपाशील, अत्यन्त दयावान है।)

दो शब्द

इस्लाम का आधार कलिमा ‘ला इला-ह इल्लल्लाहु, मुहम्म-दुर्रसूलुल्लाह’ (अल्लाह के सिवा कोई पूज्य-प्रभु नहीं, मुहम्मद (सल्ल०) अल्लाह के रसूल हैं) है। यह पुस्तक इस कलिमा (वचन) के पहले टुकड़े ‘ला इला-ह इल्लल्लाह’ (अल्लाह के सिवा कोई पूज्य-प्रभु नहीं) की व्याख्या है। या दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इसमें बताया गया है कि तौहीद (ऐकेश्वरवाद) क्या नहीं है। शिर्क (बहुदेववाद) की वास्तविकता और उसके प्रकार, उसकी खराबियाँ और मानव-प्रकृति से उसकी प्रतिकूलता इस पुस्तक से पूरी तरह स्पष्ट हो जाएगी। तौहीद के प्रमाणों का विवेचन हमने इस पुस्तक में सविस्तार नहीं किया है। इसके लिए हमने दूसरी पुस्तक लिखी है जिसका नाम ‘हक्रीकते-तौहीद’ (ऐकेश्वरवाद की वास्तविकता) है। और वह मानो ‘इल्लल्लाह’ (अल्लाह ही पूज्य-प्रभु है) की व्याख्या है।

इस पुस्तक के लेखन में लेखकों की प्रचलित परम्परा का निर्वाह नहीं किया गया है कि एक शीर्षक सामने आया हो और केवल ज़ाहिरी अनुकूलता को देखते हुए उससे सम्बन्धित कुछ आयतें कुरआन से जमा कर ली गई हों और कुछ सामग्री इधर-उधर से ली गई हो और फिर इस सारी सामग्री को संकलित करके एक किताब बना दी गई हो, बल्कि इस पुस्तक में जो विचार प्रकट किए गए हैं, मैंने कुरआन पर चिन्तन करते हुए उनको बार-बार जाँचा-परखा है, बार-बार उनकी कमज़ोरी और शक्ति का परीक्षण किया है और वर्षों की समीक्षा और विश्लेषण के बाद इस विचार से उन्हें नोट कर रखा था कि जब ईश्वर की मर्ज़ी होगी, कुरआन की तफ़्सीर (टीका) में, जिसके

नोट : प्रस्तुत हिन्दी पुस्तक वास्तव में उर्दू पुस्तक ‘हक्रीकते-शिर्क’, संस्करण 1994, ई० का संक्षिप्तिकरण है।

—प्रकाशक

अनेकेश्वरवाद की वास्तविकता

लिखने का इरादा है, वे विचार अपने-अपने उचित स्थान पर रखे जाएँगे। उन्हीं लिखित विचारों का कुछ भाग इस पुस्तक में एक उचित क्रम के साथ प्रस्तुत किया गया है। फिर भी इस बात का दावा नहीं है कि मैंने जो कुछ लिखा है सब ठीक ही है। हो सकता है कि मुझसे गलतियाँ भी हुई हों। अतः जो ज्ञानवान किसी भूल पर मुझे सचेत करेंगे, मैं अत्यन्त प्रसन्नता और खुले दिल से उनका स्वागत करूँगा।

पुस्तक का विषय-क्रम इस प्रकार है कि पहले शिर्क की व्याख्या और उसके मौलिक भेदों का विवेचन हुआ है। इसके बाद क्रमानुसार कुरआन के प्रथम सम्बोधित समुदायों अर्थात् मुशरिकों, अहले किताब (ईसाई, यहूदी) और मुनाफ़िकों के अन्दर कुरआन ने जितने प्रकार के शिर्क का पता दिया है, उनको स्पष्ट किया गया है, ताकि 'ला इला-ह' में जिस अस्वीकृति की बात कही गई है उसकी पूरी हक़ीक़त एक उचित क्रम के साथ पाठकों के सामने आ-जाए।

अन्त में दो अध्याय "क्या शिर्क मानव-प्रकृति की माँग है?" और "शिर्क का वास्तविक कारण" के शीर्षक से पाठकों के सामने आएँगे। इनमें विकासवादी चिन्तकों के विचारों की समीक्षा की गई है जिन्होंने अपने विचार में शिर्क के समर्थन में वैज्ञानिक तर्क प्रस्तुत किए हैं। इन अध्यायों में यह सिद्ध किया गया है कि 'शिर्क' का मानव-स्वभाव से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वाभाविक धर्म केवल 'तौहीद' (एकेश्वरवाद) है। इन अध्यायों का लक्ष्य एक ओर तो दावत के उद्देश्य को शक्ति पहुँचाना है, क्योंकि शिर्क अपने विश्वव्यापी प्रभुत्व एवं आधिक्य के बावजूद एक कमज़ोर पौधा है जो तौहीद की एक चोट भी सहन करने की क्षमता नहीं रखता। शर्त यह है कि वह समुदाय जिसको खुदा ने तौहीद को क़ायम करने के लिए उठाया था, अपना कर्तव्य पहचाने और शिर्क के व्यापक प्रभाव को देखकर उसका मुक़ाबला करने से हिम्मत न हार बैठे।

"...अशुभ एवं अशुद्ध बात की मिसाल एक अशुभ वृक्ष के सदृश है जिसे धरती के ऊपर ही से उखाड़ लिया जाए, और उसे कुछ भी स्थिरता प्राप्त न हो।"

—कुरआन, 14:26

दूसरी ओर सामान्य मानव-समुदाय पर यह स्पष्ट करना है कि सच्चा दावा केवल कुरआन का है जो कहता है कि मानव की प्रकृति तौहीद (एकेश्वरवाद) है, शिर्क की ग़लतफ़हमी उसको केवल बुद्धि-विकार और दूसरी दुर्बलताओं के

कारण पैदा हो जाती है।

यह पुस्तक केवल वैज्ञानिक शोध नहीं है, बल्कि एक महान उद्देश्य के लिए लोगों को आमंत्रित करने के साथ-साथ वर्तमान व्यवस्था और वर्तमान समाज पर आलोचना भी है। वैज्ञानिक शोधकार्यों को कुछ लोग चुपचाप पढ़ लेते हैं, कुछ उसकी प्रशंसा करते हैं, कुछ उसको व्यर्थ और निरर्थक ठहराते हैं और कुछ यह कहकर आगे बढ़ जाते हैं कि यह कोई नई चीज़ नहीं है। इन बातों को हम भी जानते हैं। लेकिन समय की व्यवस्था और समाज की आलोचना से बहुत-से लोग खिन्न हो उठते हैं और कभी-कभी उनकी यह खिन्नता क्रोध और प्रकोप का रूप धारण कर लेती है। मैं आलोचना का अपराध स्वीकार करता हूँ और इसके लिए सफ़ाई पेश करना व्यर्थ समझता हूँ। लेकिन मेरी नीयत नेक है और खुदा से मेरी प्रार्थना है कि यदि मेरी लेखनी से सत्य निकला है तो उसके लिए दिलों में जगह पैदा करे और इसके पुण्य-फल में उन समस्त मित्रों को सम्मिलित करे जिन्होंने इस पुस्तक को लिखने के लिए मुझे प्रेरित किया और यदि मेरी लेखनी से कहीं चूक हुई है तो उसके कुप्रभाव को मिटा दे और सबको उसके गुनाह से बचा ले।

—अमीन अहसन इस्ताही

भूमिका

अनेकेश्वरवाद (शिरक) का पाप दूसरे समस्त पापों की तुलना में इतना संगीन व जघन्य है कि कोई मुसलमान अपने साथ इसका मामूली-सा सम्बन्ध और लगाव भी पसंद नहीं करता। एक साधारण से साधारण मुसलमान भी हर प्रकार के आरोप सहन कर लेगा, हर प्रकार के पापों के साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार कर लेगा, हर प्रकार की अपवित्रताओं और हर प्रकार के गुनाहों का इक्रार कर लेगा, लेकिन अगर आप उसके किसी अक्रीदे (विश्वास) या व्यवहार में किसी मामूली शिरक की मिलावट का इशारा भी कीजिएगा तो तिलमिला उठेगा।

वर्तमान युग में जो लोग आधुनिक ज्ञान और विचारों से प्रभावित हैं, उनका प्रबुद्ध वर्ग भी, बिना जाति व धर्म के भेद-भाव के, शिरक (बहुदेववाद) को घृणा की दृष्टि से अवश्य देखता है, चाहे एकेश्वरवाद (तौहीद) के लिए उसके अन्दर कोई स्वाभिमान व गौरव हो या न हो। उनका विचार यह है कि इस युग में नास्तिकता है या एकेश्वरवाद, शिरक (अनेकेश्वरवाद) जैसे अंधविश्वास में इस ज़माने का बुद्धिजीवी इंसान नहीं पड़ सकता।

एक व्यक्ति जिसके पास कुरआन व हदीस का कुछ ज्ञान हो, जब अनेकेश्वरवाद (शिरक) से लोगों की इस अप्रसन्नता और घृणा को देखता है और साथ ही मुसलमानों के कर्मों एवं धारणाओं और संसार की सामान्य दशा एवं व्यवहार पर विचार करता है तो आश्चर्य में डूब जाता है। वह अपने ज्ञान और लोगों के व्यवहार में स्पष्ट विरोधाभास पाता है। वह अपने सिर की आँखों से देख रहा होता है कि कोने-कोने में शिरक की बुराई फैली हुई है, लेकिन दूसरों को इस बात पर सहमत पाता है कि दुनिया अब इस बुराई से पाक हो चुकी है और अगर इसका कुछ चिह्न शेष है भी तो ऐसी नगण्य और प्रभावशून्य स्थिति में है कि उसके लिए कुछ चिन्तित और प्रयत्नशील होने की आवश्यकता नहीं है। युग की उन्नति और ज्ञान के विस्तार से वह चिह्न स्वयं ही मिट जाएगा। अपने मत के विरोध में दूसरों की यह सहमति एक

ईमानदार और सच्चे व्यक्ति को सन्देह में डाल देती है और वह प्रायः अपने ज्ञान को ग़लत समझने लगता है कि संभव है कि मैंने ही शिर्क का अर्थ ग़लत समझा हो, संभव है कि तौहीद के समझने में वास्तविकता से मैं ही दूर जा पड़ा हूँ। कमरे में दुर्गन्ध तो अवश्य है लेकिन जब सब यही कह रहे हैं कि चारों ओर सुगन्ध ही सुगन्ध फैल रही है तो हो न हो इस समय कुछ मेरा ही मस्तिष्क गड़बड़ है। यह चीज़ कुछ देर के लिए उसे संदेह में डाल देती है और वह दुविधा में पड़ जाता है। लेकिन जब बार-बार के अनुभव के बाद भी उसे अपना ही विचार सही मालूम होता है और दुर्गन्ध के अस्तित्व से इनकार करना उसके लिए असंभव हो जाता है तो उस समय दो ही मार्ग उसके सामने होते हैं। अगर जनमत के विरोध का साहस उसमें नहीं है तो वह मजबूर होता है कि दूसरों की तरह स्वयं भी दुर्गन्ध को सुगन्ध कहने लगे, और अगर जनमत की उसे चिन्ता इतनी नहीं है कि उसके लिए सत्य को झुठलाए तो वह अपनी सूँघने की शक्ति की पुष्टि करता है और दूसरों को या तो स्पष्ट रूप से सचेत कर देता है कि वे किसी स्वार्थवश दुर्गन्ध को सुगन्ध कह रहे हैं, या यह विचार करता है कि उनको सुगन्ध और दुर्गन्ध की सही पहचान ही नहीं है।

मैं वर्तमान युग के मुसलमानों और तौहीद का दावा करनेवाले दूसरे गिरोहों के बारे में यही अन्तिम राय रखता हूँ। मेरा विचार है कि मुसलमानों के अन्दर शिर्क से जो घृणा और तौहीद से जो लगाव है उसके पीछे कोई ज्ञान तथा विवेक नहीं है, वरन् एक अभिमान है जो उनकी धार्मिक एवं ऐतिहासिक परम्पराओं की विरासत पर अवलंबित है, वे समझते हैं कि हम जो दुनिया में शिर्क को मिटाने का ऐसा गौरवपूर्ण इतिहास रखते हैं, कैसे हो सकता है कि उसी बुराई में हम खुद लिप्त हो जाएँ? मुसलमानों के अतिरिक्त जो दूसरे गिरोह तौहीद के दावेदार हैं उनकी दृष्टि में शिर्क से घृणा और तौहीद का पक्ष लेना एक ज्ञान-गौरव के प्रदर्शन जैसी चीज़ है। जिस तरह कोपरनिकस ने प्राचीन विचार के विरुद्ध दावा किया कि पृथ्वी की गति का केन्द्र सूरज है, और गैलीलियो ने दूरबीन का अविष्कार करके उसके माध्यम से इस दावे को सत्य प्रमाणित कर दिया, इसी तरह आधुनिक प्रयोगों और निरीक्षणों ने उन लोगों के विचार से शिर्क के समस्त अन्धविश्वासों को मिटा दिया है और

ज्ञान-विज्ञान के इस युग में अब उनमें प्रस्त होने की कोई संभावना नहीं रही। उन लोगों को कुछ पता नहीं कि शिर्क वास्तव में है क्या? इसके रूप और भेद क्या-क्या हैं? हमारे ज्ञान संबंधी, नैतिक और राजनीतिक जीवन पर इसके क्या प्रभाव पड़ते हैं? इनमें से वे किसी एक बात से भी परिचित नहीं हैं। उनकी दृष्टि में इस मामले का महत्व इससे अधिक नहीं है कि यह दुनिया की एक ज्ञान संबंधी भूल थी जिसका सुधार मानव ज्ञान के विकास ने कर दिया। शिर्क का एक बहुत ही संकुचित अर्थ “बुतपरस्ती” (मूर्तिपूजा) या “नेचरपरस्ती” (प्रकृतिपूजा) उनके मन में है और उनका कहना यह है कि जब प्रकृति के इतने रहस्य खुल चुके हैं कि निकट है कि मानव धरती और आकाश तथा दिक्काल (Space and Time) का प्रभु होने का दावा कर सके तो सागरों, पहाड़ों, ग्रहों और तारों की पूजा का क्या अर्थ!

यह स्थिति हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के साथी, इस्लाम के दूसरे खलीफ़ा हज़रत उमर (रज़ि०) की एक बुद्धिमत्तापूर्ण बात याद दिलाती है। एक बार उनके सामने किसी व्यक्ति की नेकी की प्रशंसा की गई कि वह तो इतना नेक है कि बुराई को जानता भी नहीं। हज़रत उमर (रज़ि०) ने उसकी यह प्रशंसा सुनकर कहा, “तब तो उसके बुराई में पड़ जाने की बड़ी संभावना है, क्योंकि जो व्यक्ति बुराई और भलाई की पहचान ही नहीं रखता वह हर समय बुराई में फँस सकता है।” हमारी दृष्टि में ठीक यही स्थिति आज के युग के लोगों की है। ये लोग दीन और धर्म से इतने अनभिज्ञ हैं कि दुनिया की इस सबसे बड़ी बुराई से, जिसका नाम ‘शिर्क’ (अनेकेश्वरवाद) है, अच्छी तरह परिचित ही नहीं है, और जो व्यक्ति बीमारी को बीमारी जानता ही न हो वह अगर बीमारी का कुछ अन्दाज़ा न कर सके या बीमारी ही को स्वास्थ्य मानने लगे तो क्या आश्चर्य! अतः समय की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है कि इस अज्ञानता की, जिसको कुरआन ने ‘जुल्मे अज़ीम’ (घोर अन्याय) कहा है, व्याख्या की जाए ताकि ऐकेश्वरवाद की सत्यता पूरी तरह स्पष्ट हो और सत्य एवं असत्य के ये दोनों बिन्दु इतने स्पष्ट और प्रकट हो जाएँ कि भ्रम की कोई गुंजाइश बाक़ी न रहे।

कुरआन के कथनानुसार—

“ताकि जिसको विनष्ट होना हो वह स्पष्ट प्रमाण के बाद विनष्ट हो और जिसे ईमान (आस्था) का जीवन प्राप्त करना हो वह स्पष्ट प्रमाण के साथ यह जीवन प्राप्त करे।”

— कुरआन, 8:42

1. अनेकेश्वरवाद की वास्तविकता और उसकी क्रिस्में

किसी वस्तु की ठीक कल्पना उसकी शुद्ध परिभाषा के बिना नहीं की जा सकती। इसलिए सबसे पहले ज़रूरी है कि हम अनेकेश्वरवाद (शिरक) की परिभाषा प्रस्तुत करें और उसके बाद उसकी क्रिस्में (भेदों) पर विचार करें।

कुरआन मजीद और ईश्वर के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) की हदीसों (कथनों) में जिन चीज़ों को शिरक ठहराया गया है, उनको सामने रखकर, अगर शिरक की परिभाषा की जाए तो इसकी परिभाषा यह होगी—

“ईश्वर की हस्ती (व्यक्तित्व) या उसके गुणों में, जिन अर्थों में वे ईश्वर के लिए प्रयुक्त हैं, या उसके अधिकारों में किसी को साझी ठहराना।”

इस परिभाषा को ठीक-ठीक समझने के लिए कुछ स्पष्टीकरण की ज़रूरत है। ईश्वर की हस्ती में साझी ठहराने का अर्थ यह है कि ईश्वर को किसी से या किसी को ईश्वर से उत्पन्न ठहराना, किसी को उसकी जाति-बिरादरी का समझना, किसी को उसका बाप या बेटा कहना, जैसे ईसाइयों का यह विश्वास है कि मसीह ईश्वर के जौहर (सत्व) से हैं, या ईश्वर ने उनको जन्म दिया (अर्थात् ईश्वर मसीह का पिता या जनक है)। या हज़रत मरियम ईश्वर की माँ हैं, या इस्लाम से पूर्व अरबवासियों का यह विश्वास कि फ़रिश्ते ईश्वर की बेटियाँ हैं। ये सारी बातें ईश्वर के अनादि और अनन्त होने और उन समस्त उच्च गुणों के विरुद्ध हैं जिनका मानना बुद्धि, प्रकृति और धर्म की दृष्टि से अनिवार्य है। यह ईश्वर की हस्ती में शिरक है।¹

गुणों में साझी बनाने का अर्थ यह है कि जो उच्च गुण ईश्वर के लिए निश्चित हैं, जैसे सृजन, प्रबन्ध, सामर्थ्य, ज्ञान, तत्त्वदर्शिता आदि, इनमें

1. अद्वैतवाद की धारणा की जिन विभिन्न तरीकों से व्याख्या की जाती है उसके कुछ रूप पूर्णतः इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। खास तौर पर जिस तरह गीता और हिन्दू दर्शन में अद्वैतवाद का उल्लेख किया गया है, उसके 'ईश्वर के अस्तित्व में शिरक' होने में तो कोई सन्देह नहीं है।

किसी को साझी ठहराना। लेकिन इसके साथ यह प्रतिबन्ध लगा है कि 'जिन अर्थों में वे ईश्वर के लिए प्रयुक्त हैं।' उस प्रतिबन्ध का लाभ यह है कि यही गुण बहुधा हम अपने ही जैसे मानवों के लिए भी प्रयोग करते हैं लेकिन स्पष्ट है कि जब हम इनको ईश्वर के लिए बोलते हैं तो इनका अर्थ पूर्णतः विशिष्ट होता है और इसलिए सर्वव्यापी निस्पृह (बेनियाज़) हस्ती के लिए उचित होता है। और जब इन गुणों को इनसानों के लिए बोलते हैं तो ईश्वरीय अर्थ से इनको बिलकुल अलग करके बोलते हैं। जैसे तत्त्वदर्शी के गुण को हम ईश्वर और इनसान दोनों के लिए प्रयोग करते हैं। लेकिन जब इसको ईश्वर के लिए बोलते हैं तो इसका मतलब कुछ और होता है। अगर इनसान के लिए भी इस गुण को उसी अर्थ में बोलें जिस अर्थ में ईश्वर के लिए बोलते हैं तो यह गुणों में साझी बनाना होगा। (सारांश यह कि इनसानों के लिए ये गुण किसी हद तक सीमित होते हैं, लेकिन परमेश्वर के लिए असीमित)

अधिकारों में साझी बनाने का मतलब यह है कि ईश्वर के उच्च एवं पूर्ण गुणों से जो बातें अनिवार्य होती हैं या उसके प्रति जो कर्तव्य हमपर लागू होते हैं, उनमें किसी को साझी ठहराना। उदाहरणार्थ ईश्वर स्रष्टा है— तो इससे यह अनिवार्य होता है कि संपूर्ण संसार में आदेश और व्यवस्था (Law and Order) उसी की हो। अब अगर मान लीजिए कि हम यह तो मानें कि आकाश व धरती का स्रष्टा ईश्वर है, लेकिन साथ ही यह भी मान लें कि उनका प्रबन्ध ईश्वर के सिवा किसी और के हाथ में है तो परिणामतः यह भी साझी ठहराना होगा। इसलिए कि ईश्वर के खालिक (स्रष्टा) होने से जो बात लाज़िम आती है उसमें हम ईश्वर के सिवा एक-दूसरे को साझी ठहरा रहे हैं। हालाँकि जिसने सृजन किया है आदेश चलाने का अधिकारी भी वही है। अतः फ़रमाया है—

“...सावधान, उसी के अधिकार में है सृजन और संचालन।”

—कुरआन, 7:54

इसी तरह जब सम्पूर्ण सृष्टि का प्रबन्ध और आदेश उसी के अधिकार में है तो अनिवार्य है कि बन्दगी केवल उसी की की जाए। आज्ञापालन एकमात्र

उसी का हो, वास्तविक प्रेम का केन्द्र वही हो। अब मान लीजिए कि हम ईश्वर के सिवा किसी और की भी बन्दगी इख्तियार कर लें, या उसके आज्ञापालन के विरुद्ध किसी और के आज्ञापालन को वैध ठहरा लें या उसके प्रेम के विपरीत किसी और को वास्तविक प्रेम का केन्द्र ठहरा लें तो ये सारी बातें 'अधिकार में शिर्क' गिनी जाएँगी। अतः इसी आधार पर कुरआन ने यह माँग की है—

“...ईश्वर की बन्दगी करो, आज्ञाकारिता केवल उसी के लिए खास करते हुए।” — कुरआन, 98:5

दूसरे स्थान पर कहा गया है —

“...जो लोग ईमानवाले (आस्थावान) होते हैं वे ईश्वर के प्रेम में दूसरे समस्त प्रेमों की अपेक्षा अधिक दृढ़ होते हैं (अर्थात् दूसरों के प्रति उनका प्रेम ईश्वर के प्रेम के अधीन होता है।)” — कुरआन, 2:165

ये शिर्क के मौलिक भेद हुए। इनके अतिरिक्त कुछ चीजें ऐसी भी हैं जो यद्यपि स्वतः शिर्क नहीं हैं और इन भेदों में से किसी के अन्तर्गत वे नहीं आती हैं, लेकिन वे शिर्क से मिलती-जुलती या शिर्क का साधन हैं। अगर उनको बाक्री रखा जाए तो इसका भय है कि वे असली शिर्क का द्वार खोल देंगी, और इस्लाम का नियम यह है कि वह गुनाह के साथ-साथ उन साधनों पर भी रोक लगा देता है जो गुनाह के प्रेरक होते हैं। इस कारण इस्लाम ने उनको भी निषिद्ध ठहरा दिया। जैसे ईश्वर के अतिरिक्त किसी और को सजदा करना, या आदर और महानता की दृष्टि से ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य की क्रसम खाना। चूँकि सजदा सदैव अत्यन्त नमितता और ज़िल्लत का प्रतीक समझा गया है और मुशरिक (अनेकश्वरवादी) जातियाँ अपने उपास्यों को सजदा करती रहती हैं, इसी तरह मुशरिक जातियाँ अपने उपास्यों की क्रसमों भी खाया करती थीं, इस कारण इस्लाम ने— जो अन्तिम और परिपूर्ण धर्म है — उन समस्त स्थितियों को भी समाप्त कर दिया जो शिर्क का साधन बन सकती थीं। इस प्रकार के शिर्क को 'शिर्के-शिबही' (सदृश शिर्क) कह सकते हैं।

शिरक के इन भेदों की व्याख्या के लिए उचित होगा कि हम कुरआन मजीद से इनके उदाहरण प्रस्तुत करें। कुरआन ने अपने अवतरित होने के समय जिन समुदायों को सीधा सम्बोधित किया है और उनके कर्म तथा आस्थाओं में पाए जानेवाले शिरक को इंगित किया है, वे समुदाय तीन हैं— (1) अरबवासी (बनी इसमाईल), (2) अहले-किताब (यहूदी व ईसाई) और (3) मुनाफ़िक़। इन तीनों गिरोहों में अरबवासियों को यह विशेषता प्राप्त है कि कुरआन ने उनके लिए 'मुशरिक' (अनेकेश्वरवादी) शब्द नाम और गुण के रूप में प्रयोग किया है। शेष समुदायों के लिए क्रिया के रूप में शिरक तो अवश्य प्रयुक्त हुआ है लेकिन 'मुशरिक' शब्द का प्रयोग उनके लिए नाम और गुण के रूप में नहीं किया है। इसका कारण यह है कि दूसरे समुदाय तौहीद (एकेश्वरवाद) को आधार रूप में मानते थे। उनके और मुसलमानों के बीच तौहीद एक सर्वमान्य तथ्य और सामान्य मूल्य के रूप में मौजूद थी। यहूदियों और ईसाइयों में से कोई भी तौहीद (एकेश्वरवाद) का इनकार करनेवाला न था और मुनाफ़िक़ तो अपने प्रत्यक्ष कर्मों और स्वीकृति में मानो मुसलमान ही थे। इन गिरोहों के अन्दर जो शिरक था वह उनके इकरार और घोषणा के बिलकुल विरुद्ध था। इसके विपरीत मुशरिक शिरक को एक आधारभूत आस्था के रूप में स्वीकार करते थे। ईश्वर के इस कारखाने में उनके ईश्वरत्व में ठहराए गए साझीदार (देवी, देवता) न सिर्फ़ सम्मिलित थे, बल्कि सम्मिलित होना अनिवार्य समझते थे। उनके निकट शिरक को माने बिना विश्व की गुत्थी सुलझ ही नहीं सकती थी। उनके इस महत्त्व के कारण शिरक और तौहीद के विवरण में कुरआन ने भी उनको प्राथमिकता दी है और हम भी उनको प्राथमिकता देंगे। अतः उनके अन्दर कुरआन ने शिरक के जिन भेदों की ओर संकेत किया है, पहले उनका संक्षेप में वर्णन किया जाएगा।

2. अनेकेश्वरवादियों का अनेकेश्वरवाद

अरबवासियों के सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह बात जाननी चाहिए कि उनमें कोई गिरोह ईश्वर का इनकार करनेवाला न था। कुछ लोगों ने उनके कथन, “हमें तो बस समय का उलट-फेर मारता है।” (कुरआन, 45:24) से यह तर्क प्रस्तुत किया है कि उनमें कुछ गिरोह ईश्वर का इनकार करनेवाले या आधुनिक शब्दावली के अनुसार ‘नेचरी’ थे। लेकिन यह विचार सही नहीं है। अरबों में कुरआन-अवतरण के समय नास्तिकों का कोई गिरोह मौजूद न था और “हमें तो बस समय का उलट-फेर मारता है” ऐसा जो वे कहते थे तो इससे उनका अभिप्राय खुदा की हस्ती का इनकार नहीं था, बल्कि यह बात वे कुरआन के इस दावे के खण्डन में कहते थे कि क़ौमों का उत्थान व पतन उनकी आस्थाओं, धारणाओं, उनके विश्वासों एवं कर्मों के अच्छे या बुरे होने पर निर्भर करता है।

इस संक्षेप का विस्तार यह है कि क़ौमों के उत्थान-पतन के लिए कुरआन मजीद एक नैतिक आधार ठहराता था। वह आद, समूद, लूत की क़ौम, मदन के निवासियों और फिरऔन की क़ौम के विनाश का कारण उनके कुफ़्र (इनकार), शिर्क, अन्याय, उद्दण्डता, कपटाचार, अत्याचार और उनके दूसरे ज्ञान एवं आस्था सम्बन्धी बिगाड़ को बताता था और अरबों को चेतावनी देता था कि अगर उन्होंने अपनी आस्था व नैतिकता सम्बन्धी गलतियों को न सुधारा तो अपनी शक्ति और संगठन के बावजूद उपर्युक्त क़ौमों की तरह वे भी नष्ट हो जाएँगे। यह बात उनकी समझ में न आती थी। वे क़ौमों के उत्थान-पतन में किसी नैतिक सिद्धान्त को प्रभावकारी नहीं मानते थे। वे क़ौम को एक वृक्ष के समान समझते थे जो उगता है, बढ़ता है, फलता-फूलता है, यहाँ तक कि अपनी प्राकृतिक शक्तियाँ निचोड़कर एक दिन कालचक्र की भेंट चढ़ जाता है। या क़ौमों को एक व्यक्ति के समान समझते थे, जो पैदा होता है, जवान होता है, फिर किसी बीमारी के कारण या लम्बी उम्र के कारण एक दिन मर जाता है। जीवन व मृत्यु का जो भौतिक नियम विश्व के प्रत्येक कोने में काम कर रहा है, क़ौमों के जीवन-मरण में भी

वह इसी नियम को कार्यरत मानते थे और अपने काव्य में इसी दृष्टिकोण से पिछली क़ौमों व क़बीलों के विनाश का वर्णन करते थे। क़ुरआन ने इतिहास को एक नए दृष्टिकोण से पेश किया था जो उनके उस भौतिकवादी दृष्टिकोण से बिलकुल भिन्न था और संसार में जीवित रहने के लिए उनसे जीवन के नए सिद्धान्त की माँग की थी जो उनकी इच्छाओं के बिलकुल विपरीत था। इस कारण वे इसे मानने के लिए तैयार नहीं थे और जवाब में यह कहते थे कि “हमें तो बस समय का उलट-फेर मारता है।” क़ौमों के जीवन-मरण का इन नियमों से कोई सम्बन्ध नहीं है। क़ौमों को तो केवल कालचक्र नष्ट करता है, क़ौम की अच्छाई एवं बुराई का उसके विनाश में कोई हाथ नहीं हुआ करता।

इटली के प्रसिद्ध राजनीतिक चिन्तक मेक्यावेली का मत भी यही है। जब वह यह कहता है कि शासन एक निरपेक्ष राजनीतिक अस्तित्व है, वह नैतिक है, न वैधानिक। शासक और देश के चिन्तकों के समस्त राजनीतिक कार्यों का केन्द्र शासन का हित होना चाहिए। जिस कार्य में शासन का हित हो या जो बात शासन की शक्ति-सम्पन्नता के लिए अपेक्षित हो, उसे उनको कर गुज़रना चाहिए। इसमें किसी नैतिक या क़ानूनी नियम को आड़े नहीं आना चाहिए, तो वास्तव में वह कोई नई बात नहीं कहता है, बल्कि ठीक-ठीक अरब के अज्ञानता काल के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है।

तात्पर्य यह है कि अरबवासी खुदा के इनकार करनेवाले न थे और न खुदा के आधारभूत गुणों में से किसी गुण का इनकार करते थे। वे धरती तथा आकाश, सूरज तथा चाँद और बादल तथा हवा का स्रष्टा ईश्वर ही को मानते थे, जीवन प्रदान करनेवाला, अन्नदाता और जीवन लेनेवाला भी उसी को कहते थे। अपनी समस्त शक्तियों और योग्यताओं को उसी का दिया उपहार मानते थे। इस विश्व की व्यवस्था एवं प्रबन्ध को उसी के अधिकार-क्षेत्र में समझते थे, लेकिन साथ ही कुछ ऐसी बातें भी मानते और करते थे जिनसे या तो ईश्वर के गुणों और उनकी अपेक्षाओं का इनकार आवश्यक हो जाता था, जो कुफ़्र है, या ईश्वर के गुणों और उसके अधिकारों में दूसरों की हिस्सेदारी माननी पड़ती थी, जो शिर्क है। क़ुरआन ने उनकी इस असंगति और अंतर्विरोध पर उनको जगह-जगह सचेत किया है। हमें यहाँ क़ुरआन

मजीद की केवल एक आयत पेश करना काफ़ी है—

“(हे पैग़म्बर! इन अरबवासियों से) पूछो, कौन तुमको रोज़ी देता है, आकाश और धरती से? या कौन अधिकार रखता है कानों पर और आँखों पर? और कौन निकालता है ज़िन्दा को मुर्दा से और मुर्दा को ज़िन्दा से? और कौन संसार का प्रबन्ध करता है? तो वे जवाब देंगे— अल्लाह (परमेश्वर)। तो कहो क्या उससे डरते नहीं? वही अल्लाह तो तुम्हारा वास्तविक स्वामी है, तो इस सत्य के बाद पथ-भ्रष्टता के अतिरिक्त और क्या है? तो कहाँ खोए जा रहे हो!”

(कुरआन, 10:31-32)

इस अन्तर्विरोध ने अरबवासियों को ईश्वर की इबादत के साथ-साथ अन्य बहुत-सी चीज़ों और लोगों की पूजा में फँसा दिया था जिससे ईश्वर के व्यक्तित्व, उसके गुणों और उसके अधिकारों में शिर्क के बहुत-से प्रकार पैदा हो गए और वे धीरे-धीरे उनको अपनी लपेट में लेते चले गए।

कुरआन के प्रकाश में अगर उनकी इन मुशरिकाना इबादतों का विश्लेषण किया जाए तो उनके पाँच प्रकार निकलेंगे। (i) फ़रिश्तों की पूजा, (ii) जिन्यों की पूजा, (iii) नक्षत्र-पूजा, (iv) पूर्वज-पूजा और (v) आत्म-पूजा। अब हम इनमें से प्रत्येक पर संक्षेप में विचार करेंगे।

(i) फ़रिश्तों की पूजा

अरबवासी फ़रिश्तों को ईश्वर की बेटियाँ और उसकी सन्तान कहते थे जो स्पष्टतः ईश्वर के अस्तित्व में शिर्क है और इससे उसके एकत्व की शान और उसकी निस्पृहता (बेनियाज़ी) का निषेध अनिवार्य होता है जो खुला हुआ कुफ़्र (अधर्म) है। कुरआन ने उनकी इस धारणा का खण्डन इस तरह किया है —

“वे कहते हैं परमेश्वर ने अपने लिए सन्तान बनाई है। वह पाक है, वह निस्पृह है। आकाशों और धरती में जो कुछ है सब उसी का है— तुम्हारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है। क्या तुम परमेश्वर से जोड़कर ऐसी बातें कहते हो, जिनका तुम्हें कुछ ज्ञान नहीं है।” (कुरआन, 10:68)

इन फ़रिश्तों को वे ईश्वर से निकटता का वह स्थान देते थे जो दासता व

बन्दगी के स्थान से उच्चतर और ईश्वरत्व के स्थान से बहुत निकट है और यह ईश्वर के गुणों में खुला हुआ शिर्क है। कुरआन ने इसका खण्डन किया है—

“.... आकाशों और धरती में जितने जीवधारी हैं सब ईश्वर ही को सजदा करते हैं और फ़रिश्ते भी ईश्वर ही को सजदा करते हैं और वे अहंकार नहीं करते, और अपने ऊपर अपने रब से डरते रहते हैं, वही करते हैं जिसको करने का उनको आदेश मिलता है।” — कुरआन, 16:49-50

“अहंकार नहीं करते” अर्थात् स्वयं को बन्दगी से उच्च नहीं समझते, “अपने रब से डरते हैं” अर्थात् सामीप्य प्राप्त होने के बावजूद ईश्वर के तेज की सीमा तक उनमें से किसी की पहुँच नहीं है, बस “ऊपर से” जो आदेश होता है उसको पूरा कर देते हैं। इस स्थान पर अरबी में कर्मवाच्य “यू मरून” प्रयुक्त हुआ है जो स्पष्ट करता है कि आदेश देनेवाले का स्थान उनकी पहुँच से उच्चतर है। इस कारण बजाए इसके कि वे ईश्वर से अपने सामीप्य पर गर्व करें और यह समझने लग जाएँ कि अब वे जो चाहें खुदा से कह सकते हैं (जैसा कि मुशरिकों का उनके बारे में विचार है)। वे हर समय ईश्वर की बन्दगी और आज्ञापालन में तत्पर रहते हैं और उसकी प्रसन्नता और सामीप्य के इच्छुक रहते हैं—

“वे तो स्वयं अपने प्रभु का सामीप्य प्राप्त करने का साधन ढूँढ रहे हैं कि कौन उससे ज्यादा निकट हो जाए।” — कुरआन, 17:57

मुशरिक (बहुदेववादी) लोग अपने लिए ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करना बिना किसी माध्यम के असंभव समझते थे। इस कारण इन फ़रिश्तों को ईश्वर तक पहुँचने का माध्यम बनाते थे और उनकी बन्दगी करते थे। इस प्रकार ईश्वर के उच्च एवं सम्पूर्ण गुणों से अनिवार्य होनेवाली बातों में या इबादत में शिर्क की बुराई शुरू हुई। कुरआन मजीद ने खुद उनकी ज़बान से उनकी फ़रिश्ता-पूजा की यही वजह बताई है—

“....जिन्होंने ईश्वर के अतिरिक्त अन्य मददगार निर्धारित कर लिए हैं, कहते हैं कि हम तो इनको केवल इसलिए पूजते हैं कि वे हमको ईश्वर से निकट कर दें।” — कुरआन, 39:3

मुशरिक लोग दुनिया की समृद्धि और खुशहाली को उन फ़रिश्तों की बन्दगी की बरकत समझते थे। उनके विचार में औलाद उनकी कृपा से मिलती थी। अतः कुरआन ने उनके इस विचार का वर्णन करके उसका खण्डन किया है—

“अतः जब ईश्वर उनको भली-चंगी औलाद देता है तो उसकी दी हुई चीज में दूसरों को साझी बनाते हैं। वह उन चीजों से जिनको वे साझी बनाते हैं, उच्च है। क्या वे ऐसी चीजों को साझी ठहराते हैं जो कुछ पैदा नहीं करतीं, बल्कि (स्वयं) पैदा की जाती हैं।” —कुरआन, 7:190-191

इसी तरह रोज़ी उनके विचार में फ़रिश्तों की कृपा से मिलती थी। कुरआन ने उनके इस भ्रम का खण्डन किया—

“जिनको तुम ईश्वर के अतिरिक्त पूजते हो, वे तुम्हारे लिए रोज़ी पर कुछ भी अधिकार नहीं रखते। अतः ईश्वर ही के यहाँ से रोज़ी चाहो और उसी की बन्दगी करो और उसी के कृतज्ञ बनो, उसी की ओर लौटकर जाना है।”

—कुरआन, 29:17

अरबवासी मृत्यु के बाद के जीवन और हिसाब-किताब को यद्यपि असंभव समझते थे, लेकिन कहते थे कि मान लो कि मरने के बाद उठना ही पड़ा और हिसाब-किताब देना भी पड़ा तो ये फ़रिश्ते, जिनको हम पूजते हैं, हमारी सिफ़ारिश करेंगे और हमपर कोई आँच न आने देंगे। उनकी इस धारणा से एक ओर ईश्वर के ज्ञान एवं न्याय व तत्त्वदर्शिता के गुणों का इनकार हो जाता है जो कुफ़्र है। और दूसरी ओर यह ईश्वर के गुणों में दूसरों को हिस्सेदार बनाना है जो खुला हुआ शिर्क है। कुरआन ने विभिन्न पहलुओं से इसका खण्डन किया है। कुरआन मजीद की कुछ आयतें यहाँ प्रस्तुत हैं जिनसे उनकी धारणा का सही पहलू भी स्पष्ट हो जाएगा और कुरआन ने जिस पहलू से उसका खण्डन किया है, वह भी सामने आ जाएगा।

1. इस धारणा से ईश्वर के गुणों, ज्ञान, न्याय और तत्त्वदर्शिता का इनकार किस प्रकार होता है? इस प्रश्न का विस्तृत उत्तर हमारी पुस्तक “एकेश्वरवाद की वास्तविकता” में मिलेगा। यहाँ हम केवल संक्षेप में अरबवासियों के शिर्क पर आधारित धारणाओं की ओर संकेत करना चाहते हैं।

“क्या हम आज्ञाकारियों को अपराधियों के समान कर देंगे? तुम्हें क्या हो गया है, कैसा फ़ैसला करते हो? क्या तुम्हारे पास कोई किताब है जिसमें तुम पढ़ते हो, और उसमें तुम्हारे लिए वही है जो तुम चाहते हो? क्या तुमने हमसे प्रण ले रखा है क्रियामत तक के लिए कि तुम्हारे लिए वही होगा जो तुम कहोगे? पूछो, इसकी ज़िम्मेदारी कौन लेता है, क्या उनके बनाए हुए साझीदार हैं! तो लाएँ अपने साझीदारों को अगर वे सच्चे हैं।”

— कुरआन, 68:35-41

“तो क्या तुमने लात और उज़्जा और तीसरी एक और (देवी) मनात पर विचार किया? क्या तुम्हारे लिए तो बेटे हैं और उसके लिए बेटियाँ? तब तो यह बहुत बेढंगा और अन्यायपूर्ण बँटवारा हुआ! वे तो बस कुछ नाम हैं जो तुमने और तुम्हारे बाप-दादा ने रख लिए हैं। और ईश्वर ने उनके लिए कोई सनद नहीं उतारी। वे तो केवल अटकल के पीछे चल रहे हैं और उसके पीछे जो उनके मन की इच्छा होती है। हालाँकि उनके पास उनके रब का मार्गदर्शन आ चुका है।”

— कुरआन, 53:19-23

कुरआन की इन आयतों में लात, मनात और उज़्जा का जो उल्लेख हुआ है ये तीनों फ़रिश्तों की मूर्तियाँ थीं और तीनों के नाम औरतों के नाम पर थे। उनकी सिफ़ारिश पर मुशरिकों को बड़ा भरोसा था। अरबवासी उनका तवाफ़ (परिक्रमा) करते थे और तवाफ़ के समय ये शब्द कहते थे, “ये उच्च पद पर आसीन हैं और (हमें) इनकी सिफ़ारिश की आशा है।”

कुरआन की निम्नलिखित आयतों में उनके इसी विश्वास का खण्डन किया गया है—

“क्या इनसान जो कामना करेगा, पा जाएगा! ईश्वर ही के लिए है लोक और परलोक, और कितने फ़रिश्ते हैं आसमानों में जिनकी सिफ़ारिश कुछ काम न आएगी सिवाय इसके कि ईश्वर इजाज़त दे जिसके लिए चाहे और पसन्द करे। जो लोग आखिरत (परलोक) पर इमान नहीं रखते (यानी मात्र एक कल्पना की श्रेणी में मानते हैं)। वे फ़रिश्तों के नाम औरतों के नाम पर रखते हैं। (संकेत है लात, उज़्जा और मनात की ओर)।”

—कुरआन, 53:24-27

इसके बाद सिफ़ारिश के खण्डन का प्रमाण बयान किया गया है कि यह

नहीं हो सकता कि सिफ़ारिश भले को बुरे और बुरे को भला बना दे, यह बात ईश्वर के न्याय और तत्त्वदर्शिता के बिलकुल विरुद्ध है। हर व्यक्ति अपने कर्म का फल पाएगा। खुदा की अनुकम्पा के पात्र वही होंगे जो भले काम करेंगे, गुनाहों और दुष्कर्मों से बचेंगे। हाँ, कभी भूल-चूक या मन की इच्छा के वशीभूत होकर किसी बुराई में फँस जाएँ तो यह अलग बात है। ईश्वर की दयालुता और क्षमाशीलता बहुत विस्तृत है। वह बड़ी बुराइयों से बचनेवालों की छोटी-छोटी भूलों को क्षमा कर देता है।

कुरआन में कहा गया है—

“...ईश्वर ही के लिए है जो कुछ आकाशों और जो कुछ ज़मीन में है ताकि उन लोगों को जिन्होंने बुराई की, उनके किए का बदला दे, और उन लोगों को जिन्होंने भले काम किए भला बदला दे, अर्थात् उन लोगों को जो बड़े गुनाहों और खुली बदकारियों से बचते हैं, यह और बात है कि कभी किसी बुराई में संयोगवश पड़ जाएँ। निस्संदेह तेरे रब का क्षमादान बहुत विस्तृत है।”

— कुरआन, 53:31-32

जिन फ़रिश्तों से ये आशाएँ की गई अनिवार्यतः इन आशाओं के कारण वे उस कोटि के प्रेम के पात्र ठहरते हैं जिस कोटि के प्रेम का पात्र केवल ईश्वर है और यह ईश्वरीय गुणों की अपेक्षाओं में से है और उसके विशेषाधिकारों में से है। कुरआन मजीद उनके इस ‘ईश्वरीय अधिकार में शिर्क’ का वर्णन इस तरह करता है—

“...लोगों में वे भी हैं जिन्होंने ईश्वर के सिवा साज़ी ठहरा लिए हैं। उनसे इस तरह प्रेम करते हैं जिस तरह ईश्वर से प्रेम करना चाहिए। और जो ईमानवाले हैं वे सबसे बढ़कर ईश्वर से प्रेम करते हैं। काश! देखते ये लोग जिन्होंने जुल्म किया है उस समय को जब देखेंगे कि यातना की समस्त शक्ति ईश्वर ही के अधिकार में है, और ईश्वर कठोर यातना देनेवाला है।”

— कुरआन, 2:165

“उनसे ईश्वर के समान प्रेम करते हैं” का मतलब यह है कि उन फ़रिश्तों के साथ उनका यह प्रेम स्वयं में स्थायी प्रेम है, यह प्रेम ईश्वर के प्रेम के अधीन नहीं है। और जो प्रेम ईश्वर के प्रेम के अन्तर्गत न हो वह शिर्क है। ईमानवालों

का प्रेम ईश्वर के साथ ऐसा होता है कि दूसरे समस्त प्रेम उसके अधीन हो जाते हैं। जहाँ कोई प्रेम ईश्वर के प्रेम से टकराया, उन्होंने फ़ौरन उसे त्याग दिया। यह नहीं कि उसके लिए ईश्वर और उसकी शरीरगत की उपेक्षा करें। यही भाव है कुरआन की इस आयत का कि—

“...जो ईमानवाले (आस्थावान) हैं वे सबसे बढ़कर ईश्वर से प्रेम करते हैं।”

इन समस्त आशाओं और भक्ति-भाव के उपरान्त फ़रिश्तों के प्रति यह धारणा रखनी भी अनिवार्य हो गई कि फ़रिश्ते उन समस्त प्रार्थनाओं और पूजा और अपनी बन्दगी करनेवालों के हालात से अवगत भी हैं। क्योंकि इसके बिना उनकी बन्दगी करने और उनसे प्रेम करने का लाभ ही क्या? अतएव ईश्वर के सर्वज्ञ होने के साथ फ़रिश्तों को भी सर्वज्ञ मानना पड़ेगा, कुरआन इसका खण्डन करता है। सर्वज्ञता केवल ईश्वर ही का गुण है। फ़रिश्तों का नहीं। कुरआन में आया है—

“... जिस दिन हम उन सबको जमा करेंगे, फिर जिन लोगों ने साझी ठहराया है उनसे कहेंगे कि ठहर जाओ तुम भी और तुम्हारे बनाए हुए साझीदार भी, फिर हम उनके बीच विलगाव कर देंगे और उनके साझीदार कहेंगे कि तुम हमें नहीं पूजते थे, ईश्वर हमारे और तुम्हारे बीच गवाही के लिए काफी है कि हम तुम्हारी बन्दगी से बिल्कुल बेखबर हैं।”

—कुरआन, 10:28-29

(ii) जिन्नों की पूजा

अरबवाले फ़रिश्तों की तरह जिन्नों को भी बन्दों के दर्जे से ऊपर ईश्वरत्व के गुण रखनेवाला सृष्टि-जीव समझते थे। कुरआन ने उनकी इस अवधारणा का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

“उन्होंने उसके (ईश्वर) और जिन्नों के बीच नाता जोड़ रखा है जबकि जिन्नों को भली-भाँति मालूम है कि वे अघश्य विवशतापूर्वक (ईश्वर के समक्ष) हाज़िर किए जाएँगे। महान और उच्च है ईश्वर उससे जो वे बयान करते हैं।”

—कुरआन, 37:158-159

इसी उच्चता के कारण खुदाई में अनिवार्यतः जिन्नों को भी साझी ठहरा

दिया गया।

“....उन्होंने ईश्वर के लिए जिन्नों में से साझी टहरा लिए हैं, हालाँकि ईश्वर ने उनको पैदा किया है।” — कुरआन, 6:100

जिन्नों को बिलकुल उन अर्थों में लाभ व हानि पहुँचानेवाला समझा जाने लगा, जिन अर्थों में ईश्वर को लाभ-हानि पहुँचानेवाला समझा जाना चाहिए अर्थात् यह समझा जाने लगा कि अगर ये (जिन्न) किसी को हानि पहुँचाएँ तो कोई इन्हें रोकनेवाला नहीं और यदि किसी को लाभ पहुँचाएँ तो कोई इनका हाथ पकड़नेवाला नहीं। इसका नतीजा यह निकला कि कभी-कभी इनके क्रोध और क्रोध को ठण्डा करने के लिए इनसानों और जानवरों की बलि (कुरबानी) दी जाने लगी, जो विनयशीलता और आज्ञाकारिता की अन्तिम सीमा है और जबकि ईश्वर के सिवा कोई नहीं है जो इसका अधिकारी हो सके, यद्यपि ईश्वर ने भी बन्दों से इस रूप में इसकी माँग नहीं की है जिस रूप में मुशरिक अपने इन साझियों के लिए जान की कुरबानियाँ पेश करते थे। कुरआन इसका उल्लेख इस तरह करता है—

“बहुत-से मुशरिकों के लिए उनके साझियों (जिन्न-साझियों) ने सन्तान को क्रतल करना रुचिकर बना दिया।” — कुरआन, 6:137

कष्टों और संकटों में उनकी दुहाई दी जाती थी और शरण ली जाती थी—

“....यह कि इनसानों का एक गिरोह जिन्नों के एक गिरोह की शरण लेता है।” — कुरआन, 72:6

ईश्वरीय श्रेणी में समझे जाने के कारण यह भी विचार किया जाने लगा कि उनकी पहुँच मलए आला (श्रेष्ठ फ़रिश्तों) के ठिकाने तक है। वे वहाँ से परोक्ष (गैब) की सूचनाएँ लाते हैं और भविष्यवक्ताओं (काहिनों) तक पहुँचाते हैं। अतः भविष्यवाणी करनेवालों के बाज़ार की सारी धूम-धाम इन्हीं के दम से थी। कुरआन ने इसका खण्डन किया है—

“हमने दुनिया के आकाश को सितारों से सजाया और प्रत्येक उद्दण्ड शैतान से उसको सुगुप्त कर दिया है। वे (शैतान) सर्वोच्च दरबारवालों

की ओर कान भी लगाने नहीं पाते, हर ओर से मारे जाते हैं, धुत्कारने के लिए और उनके लिए स्थायी यातना है। मगर हाँ, कोई जो उचक लेता है कोई बात, तो एक चमकता हुआ सितारा उसका पीछा करता है”

— कुरआन, 37:6-10

भविष्य जानने के शौक में काहिनों ने उनसे सम्बन्ध स्थापित किया और इस रास्ते से बहुत-से लोगों को उन्होंने अधम ज्ञान की बुराइयों में फँसा दिया और जिन्नों की पूजा शुरू हो गई। कुरआन में इसी की ओर संकेत है—

“ऐ जिन्नों के गिरोह! तुमने तो इनसानों में से बहुतों को अपना लिया।”

— कुरआन, 6:128

ये काहिन लोग बन्दगी और विनय-भाव के सारे कर्त्तव्य उनके लिए पूरे करते और परोक्ष (गैब) की खबरें जानने के लिए ध्यानस्थ होते और फिर जाहिल लोग गैब की बातें जानने के शौक में जब उनके पास आते तो झूठी-सच्ची बातें बताकर उनको बेवकूफ बनाते। कुरआन ने उनकी इस मक्कारी का वर्णन किया है—

“...वे कान लगाते हैं, हालाँकि उनमें से अधिकाँश झूठे हैं।”

—कुरआन, 26:223

कुरआन मजीद चूँकि अलंकारात्मक एवं सानुप्रास भाषा में है और काहिनों की वाणी भी अलंकारात्मक और सानुप्रास होती थी और कुरआन मजीद में चूँकि भविष्यवाणियाँ भी हैं और काहिनों की बातों में भी भविष्य-वाणियाँ होती थीं, इस कारण इस वाह्य सदृश्यता के आधार पर नुबूत के आरम्भ काल में कुरैश ने व्यंग्य किया कि मुहम्मद (सल्ल०) काहिन हैं और यह वाह्य (प्रकाशना) फ़रिश्ते की लाई हुई वाह्य नहीं है बल्कि जिस तरह काहिनों पर जिन्न वाह्य लाते हैं उसी प्रकार मुहम्मद (सल्ल०) पर भी जिन्न वाह्य लाते हैं। कुरआन ने इसका खण्डन किया—

“इसको शैतान लेकर नहीं उतरे हैं, और न यह काम उनके अनुकूल है, और न वे यह कर ही सकते हैं, वे तो (इसके) सुनने तक से दूर रखे गए हैं।”

—कुरआन, 26:210-212

कुरआन ने यहाँ जो जवाब कुरैश को दिया है बिलकुल वही जवाब इससे पहले इसी तरह के सन्देह के जवाब में हज़रत मसीह (अलै०) ने अपने ऊपर आक्षेप करनेवाले फ़रीसियों को दिया था। फ़रीसियों ने जब हज़रत मसीह (अलै०) के प्रभावपूर्ण वक्तव्य सुने और उनके चमत्कार एवं कार्य-कुशलता को देखा और यह भी देखा कि लोग बराबर उनकी ओर आकृष्ट होते जा रहे हैं तो उनके बढ़ते प्रभाव को रोकने और आम लोगों को उनसे बदगुमान करने के लिए यह प्रचार शुरू कर दिया कि इन्होंने बड़े शैतान, जिसका नाम बालज़बूल है, को किसी विशेष विधि से अपने वश में कर लिया है और उसकी सहायता से ये चमत्कार दिखाते हैं और प्रभाव डालने के लिए यह कहते हैं कि ये सब कुछ वे ईश्वर की सहायता से कर रहे हैं।

मत्ती, अध्याय 11:24-26 में है—

परन्तु जब फ़रीसियों ने यह सुना तब उन्होंने कहा, 'यह तो दुष्टात्माओं के सरदार बालज़बूल (शैतान) की सहायता के बिना दुष्टात्माओं को नहीं निकालता है।' यीशू उनके मन की बात जानते थे। यीशू ने उनसे कहा; 'जिस किसी राज्य में फूट होती है, वह उजड़ जाता है, कोई नगर या परिवार जिसमें फूट पड़ गई है, वह बना न रहेगा। यदि शैतान ही शैतान को निकाले तो वह अपना ही विरोधी हो गया; फिर उसका राज्य कैसे बना रहेगा?'

कुरआन (26:211) ने भी "व मा यंबगी लहुम" (और न यह काम उनके अनुकूल है) के शब्दों से इसी वास्तविकता की ओर संकेत किया है कि यह वह्य, जिसका एक-एक अक्षर शैतान और उसके सारे उद्देश्यों और रुचियों के बिलकुल विरुद्ध है, शैतान की सहायता से कैसे हो सकती है? वह खुद अपने गुमराही के कारोबार को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए ऐसा पवित्र मार्गदर्शक ग्रन्थ कैसे अवतरित कर सकता है? अगर वह ऐसा करे तो इसका अर्थ यह है कि उसने अपना साम्राज्य स्वयं अपने हाथों नष्ट कर डाला और वह स्वयं अपना दुश्मन हो गया है।

कुरआन की उपरोक्त आयत 26:211 के दूसरे अंश और आयत—

"...वे ऐसा कर भी नहीं सकते, वे तो श्रेष्ठ फ़रिश्तों के ठिकानों की खबरें सुनने तक से दूर रखे गए हैं।"

(26:212)

इस बात की ओर संकेत है जिसका कुरआन मजीद की आयतों (37:8-10) में ऊपर वर्णन हो चुका है और जिसे जिन्नों ने खुद कुरआन की सूरा जिन्न में स्वीकार किया है—

“....हम बैठते थे उस (आसमान) के ठिकानों में, सुनने के लिए फ़रिश्तों की बातें, लेकिन अब जो सुनेगा तो अपने लिए एक उल्का धात में पाएगा।”

— कुरआन, 72:9

फ़रिश्तों से जिन्नों के इस सम्बन्ध का कुरआन ने जगह-जगह खण्डन किया है और बार-बार यह बात स्पष्ट की है कि कुरआन शैतान के हस्तक्षेप से बिलकुल پاک है और ऐसे अवसरों पर साधारणतः सितारों के गिरने, उनके टूटने और उनके फेंके जाने की गवाही के रूप में क्रसम भी खाई है जिससे अभिप्रेत उल्काओं का गिरना और शैतानों का धुत्कारा जाना है। कुरआन की सूरा 56 वाक़िआ, सूरा 69 हाक्का, सूरा 81 तकवीर और सूरा 53 नज़्म में इसके उदाहरण मौजूद हैं। सूरा 26 शुअरा में दूसरे पहलू से इसका खण्डन किया गया है। फ़रमाया कि पैग़म्बर पर शैतान नहीं आ सकते। जिस प्रकार मक्खी केवल गन्दी चीज़ों पर बैठती है उसी प्रकार शैतान केवल गन्दी और नापाक आत्माओं पर ही उतरते हैं। वे खुदा के रसूलों और नबियों पर आने का साहस नहीं कर सकते और न ही उनकी बातों में अपनी बातों की कोई मिलावट कर सकते हैं।

“क्या मैं तुम्हें बताऊँ कि शैतान किन लोगों पर उतरते हैं? वे हर ढोंग रचनेवाले पापी पर उतरते हैं (अर्थात् काहिनों पर)। वे कान लगाते हैं (शैब की ख़बरें सुनने के लिए ध्यान लगाकर बैठते हैं) और अधिकतर झूठे होते हैं (अर्थात् वास्तविकता कुछ भी नहीं होती, मगर बहुत-सी बातें गढ़कर सुना देते हैं)।”

—कुरआन, 26:221-223

(iii) नक्षत्र-पूजा

दुनिया की समस्त मूर्तिपूजक क़ौमों में सूरज और चाँद की पुजा का चलन रहा है। अरबवासी भी इनको पूज्य देवता की श्रेणी में सम्मिलित करते थे और इनकी पूजा करते थे। कुरआन ने इसका खण्डन किया—

“...उसकी निशानियों में से रात और दिन, सूरज और चाँद हैं। न सूरज को सजदा करो न चाँद को, बल्कि सजदा करो उस ईश्वर को जिसने इनको पैदा किया है, अगर तुम उसी की बन्दगी करते हो।” — कुरआन, 41:37

अरबवासी नक्षत्रों के प्रभाव को भी मानते थे। उनका विश्वास था कि अनवा (नक्षत्रों) को धरती की खुशहाली में बड़ा दखल है। वे वर्षा को उन्हीं की दयादृष्टि का कारण समझते थे। वर्षा होती तो कहते, “अमुक नक्षत्र खूब बरसा।” और यह सम्बन्ध उनकी दृष्टि में अवास्तविक नहीं होता था, बल्कि वे वास्तव में इस बात पर ईमान रखते थे कि वर्षा करना इन नक्षत्रों ही का काम है। प्रसिद्ध नक्षत्र ‘शिअरा’ भी अरबों का पूज्य था। यह गर्मियों में उदित होता था।

अरब में सर्दियों का मौसम अकाल और गरीबी का मौसम होता था। उत्तर की ठण्डी हवाएँ उस समय पूरे देश की समस्त व्यापारिक गतिविधियों को ठण्डा कर देती थीं। इसी कारण अरबवासी सर्दियों के मौसम को “अय्यामुन नहिसातिन” अर्थात् अशुभ दिन कहते थे। यातायात और व्यापार की चहल-पहल अधिकतर गर्मियों के मौसम से सम्बद्ध थी और चूँकि यही समय ‘शिअरा’ के उदय होने का समय होता था, इस कारण ये सब भलाइयाँ उसी से सम्बन्धित समझी जाती थीं। कुरआन ने इस अन्धविश्वास का खण्डन किया है—

“...वही (ईश्वर) लोगों को मालदार और धनी बनाता है और वही ‘शिअरा’ (नामक तारे) का ‘रब’ है।” — कुरआन, 53:48-49

अरबों की धार्मिक कल्पना ने इन विभिन्न अवयवों को जोड़कर देवताओं की एक महफ़िल (Constellation of gods) सजाई जिसमें ईश्वर की हैसियत एक सिंहासनवाला या महादेव की ठहराई और इन देवताओं को उसके दरबारी और राज्याधिकारी की हैसियत दी। फिर इस कल्पना में उपमाने, जो सदा से शिर्क का बहुत ही महत्वपूर्ण कारण और प्रेरक रही है, रंग चढ़ाया और यह विचार बना कि जिस तरह संसार के राजा और सम्राट अपने दूरस्थ स्थानों का प्रबन्ध अपने अधिकारियों और गवर्नरों को सौंप देते हैं उसी

तरह सिंहासन आसीन ईश्वर ने भी धरती के मामलों का प्रबन्ध और व्यवस्था इन देवताओं को सौंप दी है। उसने अपना सम्बन्ध केवल आकाश की व्यवस्था और प्रबन्ध से रखा है, जिसकी हैसियत राजधानी की है। शेष रही यह धरती तो इसके मामलों में उसकी हैसियत बस एकान्तवासी कारकों के कारण की है, इसकी सामान्य व्यवस्था और प्रबन्ध और रजनीति से उसका कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध (in touch) नहीं है। यह धारणा एक निर्गुण धारणा है जो कुछ मुशरिक जातियों में पाई जाती है, लेकिन इस प्रकार की निर्गुण धारणा एक ओर तो ईश्वर की शक्ति एवं ज्ञान का निषेध है, दूसरी ओर इससे ईश्वर के प्रभुत्व और उसके शासनाधिकार का विभाजन अवश्यभावी हो जाता है। इसी लिए कुरआन ने इसका खण्डन किया है।

इस विभाजन से ईश्वर की शक्ति और ज्ञान का जो निषेध होता है और उसपर विवशता और अज्ञान का जो दोष आरोपित होता है, उसका खण्डन कुरआन ने इस प्रकार किया है—

“बस अल्लाह (ईश्वर) ही पूज्य-प्रभु है, जीवन्त-सत्ता है। सबको संभालने और कायम रखनेवाला है। उसको न ऊँच लगती है, न नींद आती है, जो कुछ आकाशों और धरती में है सब उसी के लिए है... उसका साम्राज्य आकाशों और धरती सब पर छाया हुआ है और उसका संरक्षण उसपर भारी नहीं है।”

— कुरआन, 2:255

“तुम्हारा मालिक वही ईश्वर है जिसने आकाशों और धरती को छः दिनों में पैदा किया, फिर वह सिंहासन पर विराजमान होकर सारी व्यवस्था का प्रबन्ध कर रहा है।”

— कुरआन, 10:3

मुशरिक जातियों के इस विभाजन से खुदा की बादशाही (Sovereignty) में बटवारे की जो स्थिति पैदा होती है उसका खण्डन कुरआन ने इस प्रकार किया है—

“....(ईश्वर) ने कहा, दो-दो पूज्य न बनाओ, वह तो अकेला ही पूज्य-प्रभु है। अतः मुझसे ही डरो।”

— कुरआन, 16:51

“वही है जो आकाशों में भी पूज्य है और धरती में भी पूज्य है, और वह तत्त्वदर्शी और ज्ञानवान है।”

— कुरआन, 43:84

बहुदेववाद (शिक) का खण्डन कुरआन की इन आयतों में भी है—

“कहो, यदि उसके साथ (अन्य) पूज्य भी होते, जैसाकि वे कहते हैं, तो वे तो सिंहासनवाले से झगड़े का रास्ता ढूँढते।” —कुरआन, 17:42

“यदि आकाश व धरती में ईश्वर के अतिरिक्त और पूज्य होते तो वे दोनों (आकाश और धरती) नष्ट-भ्रष्ट हो जाते।” —कुरआन, 21:22

धरती के मामलों में ‘सीधा अधिकार रखनेवाले’ मानने के कारण अरब-वासियों ने इन देवताओं को पूजा और आदर के उन समस्त प्रतिष्ठानों का अधिकारी ठहराया जो ईश्वर के लिए निश्चित थे। ईश्वर के लिए काबा था, उनके लिए भी अलग-अलग स्थान और पूजा-स्थल बनाए गए थे। ईश्वर के लिए हज और कुरबानी के तरीके थे, उनके लिए भी हज और कुरबानी की रीतियाँ अपनाई गईं। ईश्वर ने अपने लिए कुरबानी एवं निशानियाँ निश्चित की थीं। मुशरिकों ने अपने आराध्यों के लिए भी बहीरा, साइबा, वसीला और हाम¹ निश्चित कर दिए। ईश्वर के लिए धरती की उपज और चौपायों में से एक निश्चित भाग था, उनके देवता भी इस हिस्से के अधिकारी ठहरे और चूँकि धरती के प्रबन्ध के वास्तविक जिम्मेदार उनके विचारानुसार यही थे, इस कारण ईश्वर के मुक्काबले में उनके हिस्से को कुछ प्राथमिकता ही प्राप्त थी। कुरआन में कहा गया है—

“...ईश्वर ने जो खेती और चौपाए पैदा किए हैं उनमें उन्होंने ईश्वर का एक भाग रखा, और कहा कि यह ईश्वर के लिए है, उनके विचारानुसार, और यह हमारे साझीदारों के लिए है। अतः जो हिस्सा उनके साझीदारों का होता है, वह ईश्वर को नहीं पहुँचता और जो हिस्सा ईश्वर का होता है, वह उनके साझीदारों को मिल सकता है। कितना बुरा फैसला है जो वे करते हैं।”

—कुरआन, 6:136

ईश्वर का हिस्सा उनके साझीदारों की ओर हस्तांतरित हो सकता था,

1. बहीरा, साइबा, वसीला और हाम ये पशुओं के विभिन्न प्रकार हैं। जिनको अरबवासी अपने देवताओं के नाम पर छोड़ते थे और इनको कुरबानी के जानवरों के समान पवित्र समझते थे।

लेकिन ईश्वर के साझीदारों का हिस्सा ईश्वर की ओर हस्तांतरित नहीं हो सकता था। ईश्वर के लिए केवल जानवरों की कुरबानी थी, लेकिन साझीदारों के लिए, जैसा कि पीछे वर्णन हुआ, कुछ विशेष परिस्थितियों में संतान तक की कुरबानी अर्पित की जाती थी। ईश्वर ने केवल कुछ चीजें हराम की थीं, लेकिन उनके देवताओं के सम्बन्ध से बहुत-सी चीजें हराम (Taboo) हो गईं। ईश्वर वहय व इलहाम (प्रकाशना एवं आत्मिक संकेत) अवतरित करता था, ये देवता भी फ़ाल (शगुन) के तीरों की भाषा में अपने परोक्ष (ग़ैब) के फ़ैसले जारी करने लगे।

समाज के विशिष्ट लोग ये समस्त सेवा-भाव फ़रिश्तों, जिन्नों और नक्षत्रों के प्रति रखते थे। लेकिन जनसाधारण को इतनी उड़ान भी प्राप्त नहीं थी। वे मिट्टी, पत्थर और लकड़ी आदि की बनी हुई मूर्तियों ही को वास्तविक कार्यसाधक मानते थे। इसी कारण कुरआन ने मूर्तिपूजा के खंडन में विशिष्ट एवं साधारण, दोनों प्रकार के लोगों की मनोवृत्ति को सामने रखा है। उदाहरणार्थ कुरआन की सूरा-7 आराफ़ में पहले यह कहा गया—

“जिनको तुम ईश्वर के अतिरिक्त पुकारते हो, तुम्हारे जैसे ही बन्दे हैं।
अतः उनको पुकारो कि तुम्हारी फ़रियाद सुनें, यदि तुम सच्चे हो।”

—कुरआन, 7:194

फिर कहा गया—

“क्या उनके पाँव हैं जिनसे चलते हैं, क्या उनके हाथ हैं जिनसे पकड़ते हैं,
क्या उनकी आँखें हैं जिनसे देखते हैं, क्या उनके कान हैं जिनसे सुनते हैं?”

—कुरआन, 7:195

(iv) पितर-पूजा

मुशरिकों (बहुदेववादियों) ने ईश्वर के गुणों और अधिकारों में अपने पूर्वजों में से उन प्रतिष्ठित लोगों को साझी ठहराया जिनकी धर्मपरायणता की कहानियाँ उनमें फैली हुई थीं। उनकी समाधियाँ और उनके अवशेष चिह्न अनुग्रह प्राप्ति और अपनी प्रार्थनाओं की स्वीकृति केन्द्र बनते-बनते अन्ततः पूजास्थल बन गए और धीरे-धीरे उनके सम्बन्ध में भी उन्होंने इस प्रकार की

धारणाएँ बना लीं जिस प्रकार की धारणाएँ उन्होंने जिन्नों और फ़रिश्तों के सम्बन्ध में स्थापित कर ली थीं, जिनका विस्तृत वर्णन ऊपर आ चुका है। कुरआन ने उसका खण्डन किया—

“....(बहुदेववादी) जिनको ईश्वर के अतिरिक्त पुकारते हैं वे कुछ पैदा नहीं करते, बल्कि खुद पैदा किए गए हैं। मुर्दा हैं, जीवित नहीं हैं, उन्हें कुछ खबर नहीं कि कब उठेंगे।”
—कुरआन, 16:20-21

इस पितर-पूजा का सबसे अशुभ रूप यह था कि पूर्वजों की रस्मों और परम्पराओं को उन्होंने धर्म और शरीरत (विधान) की हैसियत दे दी। अतः पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) के आह्वान के विरोध में सबसे अधिक सशक्त प्रेरक तत्व उनका यही पितर-पूजा का जुनून था। जब उनको ईश्वर के मार्ग पर चलने की दावत दी जाती थी और ईश्वर के आदेश और क़ानून बताए जाते थे तो वे कहते थे, क्या एक पागल कवि के कहने पर हम अपने पूर्वजों का तरीक़ा छोड़ दें! यह नहीं हो सकता। कुरआन ने कहा—

“जब उनसे कहा जाता है कि उस चीज़ की ओर आओ जो ईश्वर ने उतारी है रसूल की ओर आओ तो कहते हैं कि हमने अपने बाप-दादा को जिस ढर्रे पर पाया है वह हमारे लिए काफ़ी है। क्या यदि उनके पूर्वज कुछ न जानते रहे हों और संमार्ग पर न रहे हों तब भी (उन्हीं का अनुकरण करते रहोगे)?”

—कुरआन, 5:104

इस आयत के अन्तिम भाग से मालूम होता है कि बाप-दादा का चलन इस दृष्टि से तो अच्छी चीज़ है कि दिल को उससे प्रेम और लगाव होता है, लेकिन किसी प्रथा की अच्छाई के लिए केवल इतनी बात काफ़ी नहीं हो सकती कि वह पूर्वजों से चली आ रही है। इसके सम्बन्ध में सबसे पहली बात यह है कि वह बुद्धि-विरुद्ध तो नहीं है, मानव-स्वभाव के विरुद्ध तो नहीं है, नैतिकता के विरुद्ध तो नहीं है। संक्षेप में यह कि ईश्वर के बताए हुए तरीक़े से अलग तो नहीं है? अगर इन कसौटियों पर वह सही उतर जाए तो निस्संदेह वह सही है और पूर्वजों का तरीक़ा होना उसके सही होने के लिए तदाधिक पुष्टिकरण है। और यदि इन कसौटियों पर वह खोटी सिद्ध होती है तो वह ग़लत है और किसी असत्य का पैतृक होना उसके सही होने का प्रमाण नहीं

हो सकता।

इस मामले में दुनिया सदैव न्यून या अधिक की अतिवादी दो नीतियों में ग्रस्त रही है। प्राचीन अज्ञानता का दृष्टिकोण तो, जैसा कि ऊपर वर्णन हुआ, यह था कि पूर्वजों की प्रथा हर स्थिति में न्यायसंगत और सत्य है। इसके सत्य होने का प्रमाण यह है कि वह पूर्वजों से चली आ रही है। आधुनिक अज्ञानता इस सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण रखती है उसकी बेहतरीन अभिव्यक्ति प्रसिद्ध कवि टेनीसन के शब्दों में इस प्रकार की जा सकती है—

“यदि अच्छी से अच्छी प्रथा भी सदैव बाक़ी रहे तो दुनिया को बिगाड़ डाले।”

ये दोनों मार्ग अतिवादी मार्ग हैं। एक का आधार अन्धानुकरण है जो बुद्धि से काम न लेने का परिणाम है, दूसरे का आधार उद्वण्डता और बुद्धि-भ्रष्टता है जो बुद्धि को उसकी सीमा से आगे बढ़ाने का कुपरिणाम है। एक शिर्क व मूर्तिपूजा के एक विशेष रूप ‘पितर-पूजा’ (Ancestor Worship) की ओर ले जाता है, दूसरा नास्तिकता व अधर्म की ओर ले जाता है जो आत्मपूजा का द्वार है। और इन दोनों ही मार्गों में मानव खुदा-परस्ती (ईशपरायणता) की सत्यता से वंचित और परिणाम पर विचार करने की जिम्मेदारियों से बिलकुल लापरवाह हो जाता है। यदि मानव के लिए यह बात वैध नहीं हो सकती कि वह अपनी बुद्धि और विवेक पर मुहर लगाकर पशुओं के रेवड़ में शामिल हो जाए तो यह बात भी वैध नहीं हो सकती कि एक मार्ग के गलत और दूसरे मार्ग के सही होने का निर्णय किए बिना एक को छोड़कर दूसरे पर चल पड़े।

इन दोनों मार्गों पर चलनेवाला व्यक्ति, शैतान के पद-चिह्नों पर चलने का अपराधी है। बुद्धि और प्रकृति का मार्ग वह है जिसकी गवाही संसार के अच्छे लोगों और नबियों के नबी बनाए जाने से पूर्व के जीवन से मिलती है। उनका तरीका यह रहा है कि ज्यों ही विवेकावस्था की किरणें उनपर चमकीं, उन्होंने सबसे पहले अपनी बौद्धिक विरासत का जाइज़ा लिया जो उन्हें पूर्वजों से पहुँची थीं और उसमें जो चीज़ भी उन्हें बुद्धि और प्रकृति के विरुद्ध नज़र

आई उसको उन्होंने बेझिझक छोड़ दिया। इस मार्ग में उन्हें लोगों की ओर से असंख्य कष्ट झेलने पड़े, किन्तु उसकी उन्होंने कोई चिन्ता नहीं की। ये लोग मानव-जाति के सर्वोत्तम चुने हुए पुष्प थे और अपनी इस विशेषता के कारण सत्य से लाभान्वित होने में हम सबसे आगे रहे। जिस प्रकार सूर्योदय होता है तो उसकी किरणें सबसे पहले ऊँची मुँडेरों पर ही चमकती हैं, उसी प्रकार जब कभी दुनिया में सत्य का सूर्य उदित हुआ, उन्हीं के मस्तिष्क और हृदय उससे सर्वप्रथम प्रकाशमान हुए।

इसका एक सुन्दर उदाहरण हज़रत यूसुफ़ (अलै०) का जीवन है। उन्होंने कहा—

“मैंने उस क़ौम के धर्म को छोड़ा जो ईश्वर पर ईमान नहीं रखती थी और वह आखिरत (परलोक) का भी इनकार करती थी, और मैंने अपने पूर्वजों इबराहीम, इसहाक़ और याक़ूब का अनुसरण किया।”

— कुरआन, 12:37-38

हज़रत यूसुफ़ (अलै०) के बारे में मालूम है कि प्रत्यक्षतः न उन्होंने किसी धर्म को स्वीकार किया और न किसी धर्म का त्याग किया। जिस धर्म में वे पैदा हुए थे प्रथम दिन से अपने पवित्र जीवन की अंतिम साँस तक उसी धर्म पर रहे। नुबूवत (पैगम्बरी) की प्राप्ति के बाद उसी धर्म की उनपर प्रकाशना (वह्य) हुई। मिस्र में क्रिब्तियों का धर्म उनके समक्ष आया लेकिन उनका पवित्र हृदय एक क्षण के लिए भी उसकी मलिनताओं में लिप्त नहीं हुआ। यद्यपि वे कहते हैं कि मैंने एक क़ौम के धर्म को—जो ईश्वर और आखिरत पर ईमान नहीं रखती थी— छोड़ा और अपने पूर्वजों इबराहीम, इसहाक़ और याक़ूब (अलै०) के दीन (धर्म) को स्वीकार किया। स्पष्ट है कि उन्होंने अपने पूर्वजों के धर्म को मात्र पैतृक विरासत समझकर नहीं अपना रखा था, बल्कि एक पवित्र प्रकृति और शुद्ध हृदय के प्रयास के साथ उसकी सत्यता और यथार्थता को जाँचा-परखा था। वह पद्धति उनके लिए खुद उनकी अपनी खोज थी, इसलिए अपनी बन चुकी थी और उनके हृदय के प्रत्येक तंतु में उतरी हुई थी। उसकी शुद्धता पर उनकी बुद्धि गवाह थी और उसके स्वाभाविक और ईश्वरीय होने पर उनका हृदय पूर्णरूपेण संतुष्ट था। वे

उसके साथ इसलिए नहीं लग गए थे कि वे पूर्वजों के पक्षपात में ग्रस्त थे, बल्कि सम्पूर्ण विश्व में यदि एक प्राणी भी उस मार्ग पर न होता तब भी उनका मार्ग वही होता। लेकिन यह ईश्वर की एक तद्धिक अनुकंपा थी कि वही मार्ग उनके पूर्वजों का भी था।

इसका साक्ष्य मिस्र में उनके कष्टसाध्य जीवन से मिलता है। संकटपूर्ण परीक्षाओं की कैसी-कैसी घटाएँ उमड़-उमड़कर आती हैं, किन्तु उनके पैर फिसलते नहीं। बल्कि अंधकार जितना बढ़ता जाता है उनका ईमान और विश्वास उतना ही सुदृढ़ होता जाता है। उनको डिगाने का जितना प्रयत्न किया जाता है उनके क्रम संमार्ग पर उतने ही अधिक जम जाते हैं। दुनिया में जो लोग भी किसी मार्ग को इस विवेक-ज्योति के मार्गदर्शन में अपनाते हैं, वे उसे वास्तव में अपनाते हैं, उसका अन्धानुकरण नहीं करते, यद्यपि वह मार्ग उनके पूर्वजों ही का मार्ग हो। और ऐसे लोग दूसरे मार्गों को यदि छोड़ते हैं तो वे वास्तव में 'छोड़ते हैं' चाहे वे उनपर एक क्रम भी न चले हों। यही दृष्टि और अनुसंधानपरक प्रयत्न धर्म की आत्मा है। यह न हो तो सभी धर्म बेजान और निष्प्राण हो जाते हैं।

(V) आत्म-पूजा

देवताओं की इस सभा में अरब के बहुदेववादी स्वयं भी सम्मिलित थे, लेकिन ईश्वरीय प्रकाशना (वह्य) की चेतावनी से पूर्व जिस प्रकार उन्हें अपने बहुत-से अन्य बहुदेववादी कृत्यों और धारणाओं का ज्ञान नहीं था, उसी प्रकार इस बात (आत्म-पूजा) के एहसास से भी वे वंचित थे। वे स्वयं को खुदा का बन्दा तो कहते थे, किन्तु बन्दगी के कर्तव्यों और अपेक्षाओं से अनभिज्ञ थे। इस कारण बन्दगी की सीमाओं को लाँघकर खुदाई सीमाओं में प्रवेश कर गए थे। कुरआन ने उनके इस प्रकार की सीमोल्लंघन की जो स्थितियाँ बताई हैं उनका संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है और यह विवरण बहुत ध्यान देने योग्य है—

(अ) यह बात मालूम हो चुकी है कि अरबवासी अपनी दासता और ईश्वर के स्रष्टा और पालनकर्ता होने का इनकार नहीं करते थे, लेकिन उसकी

अपेक्षाओं अर्थात् ईश्वर की बन्दगी और फिर बन्दगी की अपेक्षाओं अर्थात् एक ईश्वर का आज्ञापालन करने में वे संमार्ग से हटे हुए थे। वे आज्ञापालन में दूसरों को भी सम्मिलित करते थे। इस इबादत और बन्दगी का अर्थ उनके निकट “पूजा-पाठ” से अधिक नहीं था। वे इस बात में कोई बुराई नहीं समझते थे कि इबादत ईश्वर की होती रहे और आज्ञापालन अपना या किसी और का। वे ईश्वर के मार्गदर्शन की जगह अपने मन, अपने पूर्वजों और अपने सरदारों और लीडरों का ईश्वर के आदेशों के विरुद्ध अनुसरण करके भी यही समझते थे कि इससे ईश्वर की बन्दगी में कोई व्यवधान नहीं पड़ता। लेकिन कुरआन ने चेतावनी दी कि ईश्वर की इबादत उसके आज्ञापालन के बिना निरर्थक है। ईश्वर की बन्दगी का अनिवार्य तत्काज यह है कि केवल उसी का आज्ञापालन किया जाए।

“हमने तुम्हारी ओर किताब उतारी है हक के साथ, अतः ईश्वर ही की बन्दगी करो उसी का आज्ञापालन करते हुए। हाँ आज्ञापालन विशुद्ध रूप से ईश्वर ही के लिए उपयुक्त है।”
—कुरआन, 39:2-3

इस आशय की आयतें कुरआन मजीद में कई जगह हैं। सभी उद्धृत करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। उन सब का मतलब यह है कि ईश्वर ने जो धर्म अवतरित किया, उसमें परिवर्तन एवं अर्थ परिवर्तन ने बहुत-से मतभेद पैदा कर दिए थे और अगणित नई बातें दाखिल हो गई थीं। इस कारण ईश्वर की विशुद्ध इबादत और बन्दगी का मार्ग अवरुद्ध हो गया था। इन नवोदित आचार-विचार की उपस्थिति में जो लोग भी इबादत कर रहे थे, वे एक ईश्वर की इबादत से वंचित थे। वे नाम तो ईश्वर का अवश्य लेते थे, लेकिन पग-पग पर ईश्वर के अतिरिक्त दूसरों के आज्ञापालन में लिप्त थे। कुरआन ने ये मतभेद मिटा दिए और शरीअत (धार्मिक विधान) को ईश्वर-विरोधी तत्त्वों से पाक कर दिया। यह किताब सत्य और असत्य के बीच एक निर्णायक कसौटी की हैसियत से प्रकट हो गई है। अब ईश्वर की बन्दगी और आज्ञापालन का सीधा मार्ग खुला हुआ है। अतः उसी की इबादत करो, एक उसी की आज्ञा का पालन करते हुए। अर्थात् बन्दगी वही मान्य है जो शुद्ध आज्ञापालन के साथ हो। यदि केवल कुछ विशेष समयों में ईश्वर का नाम जप लिया जाए

और आज्ञापालन में उसके साथ दूसरों को भी साझी बना लिया जाए, चाहे वह साझी मानव का अपना ही अहम (मन) हो, तो यह बन्दगी नहीं, “नमरूद की खुदाई” है, जिससे किसी भलाई की आशा नहीं रखनी चाहिए। कुरआन में है—

“देखो तो उसको, जिसने अपनी इच्छा को पूज्य बना रखा है, क्या तुम उसके जिम्मेदार हो सकते हो।”
—कुरआन, 25:43

ईश्वर के आज्ञापालन का मार्ग यह है कि उसके पैग़म्बरों का अनुकरण किया जाए।

“जिसने (ईश्वर के) पैग़म्बर का आज्ञापालन किया वास्तव में उसने ईश्वर का आज्ञापालन किया।”
—कुरआन, 4:80

यही कारण है कि (ईश्वर के भेजे हुए) प्रत्येक पैग़म्बर का आमंत्रण यह रहा है कि ईश्वर की बन्दगी करो और पैग़म्बर का आज्ञापालन करो।

“ईश्वर की इबादत करो और उसी से डरो और मेरी आज्ञा का पालन करो।”
—कुरआन, 71:3

तात्पर्य यह है कि ईश्वर की इबादत और बन्दगी की राह यह है कि पैग़म्बर का आज्ञापालन किया जाए और साथ ही उन लोगों के मार्ग के अनुसरण से इनकार किया जाए जो ईश्वर के रास्ते से विमुख हुए हैं। अतएव नबियों ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि—

“....सीमोल्लंघन करनेवालों का आज्ञापालन न करो।”

—कुरआन, 26:151

यानी हमारा आज्ञापालन करो और उन लोगों का आज्ञापालन न करो जिन्होंने ईश्वर की सीमाओं का उल्लंघन किया है और जो ईश्वर के विद्रोही हैं।”

तौहीद (एकेश्वरवाद) का यही वह स्थान है, जहाँ एकेश्वरवादियों और बहुदेववादियों में वास्तविक विवाद खंडा होता है। जब ईश्वर की इबादत का अर्थ केवल ‘पूजा-पाठ’ नहीं है, बल्कि उसे यह अपेक्षित है कि जो ईश्वर के बन्दे हैं वे केवल ईश्वर ही का आज्ञापालन भी करें और उसके आदेश का

अनुपालन करने के अतिरिक्त हर उस आज्ञापालन को शिर्क मानें जो ईश्वर के आज्ञापालन के विरुद्ध है, किन्तु इस बात को वे लोग सहन नहीं कर सकते जो स्वयं अपनी खुदाई के दावेदार होते हैं।

(ब) इसी आधार पर कुरआन ने क़ानून निर्माण को ईश्वर का विशिष्ट अधिकार ठहराया और किसी के लिए इसमें किंचित मात्र भी सहभागिता सहन नहीं की। अतएव अधिकांश स्थानों पर तौहीद (एकेश्वरवाद) के वर्णन के साथ इस बात का भी वर्णन किया गया है कि किसी चीज़ को हराम (अवैध) और किसी चीज़ को हलाल (वैध) ठहराना ईश्वर का अधिकार है। वह शासक है, उसी को अधिकार है कि वह अपनी प्रजा और अपने राज्य के लिए क़ानून बनाए। उसके क़ानून के विरुद्ध क़ानून बनाना, तौहीद की अवज्ञा, शैतान की पैरवी करना और ईश्वर की इबादत का निषेध है। जो व्यक्ति ईश्वर के क़ानून के विरुद्ध क़ानून बनाता है, वह स्वयं को ईश्वर का साझी ठहराता है और अगर दूसरे के लिए इस अधिकार को स्वीकार करता है तो उसको ईश्वर के अतिरिक्त रब बनाता है। और अगर वह इस बात का दावा करता है कि यह ईश्वर की ओर से है तो यह शिर्क के अलावा ईश्वर पर झूठा दोषारोपण भी है। कुरआन की सूरा -2 'अल-बक्ररा' की आयतें 163-173 पढ़िए। आरंभ की पाँच आयतों में तौहीद का वर्णन है। फिर उसी के बाद यह आयत आती है—

“ऐ लोगो! खाओ उन चीज़ों में से जो ज़मीन में हैं हलाल व पवित्र, और शैतान के पद-चिह्नों का अनुसरण न करो। वह तुम्हारा खुला हुआ दुश्मन है।”

—कुरआन, 2:168

‘शैतान के पद-चिह्नों का अनुसरण न करो’ से इशारा शैतान की ओर से किए जानेवाले शिर्क के उस आह्वान की ओर है, जिसकी उसने प्रथम दिन ही घोषणा कर दी थी।

“मैं उनको (इनसानों को) भटकाऊँगा, अभिलाषाओं में फँसाऊँगा और सलाह दूँगा तो वे पशुओं के कान काटेंगे और सुझाव दूँगा तो वे ईश्वर की बनाई हुई प्रकृति को बदलेंगे।”

—कुरआन, 4:119

इसके बाद शैतान के आह्वान का वास्तविक उद्देश्य स्पष्ट किया है कि वह बुराई और निर्लज्जता की ओर बुलाता है और चाहता है कि मानव स्वयं अपने मन से हलाल और हराम निश्चित करे और अपने लिए क़ानून स्वयं बनाए और फिर प्रमाण के बिना उसका सम्बन्ध ईश्वर से जोड़े।

“शैतान तो तुम्हें बुराई और अश्लीलता पर उभारता है और यह सिखाता है कि तुम ईश्वर के नाम पर थोपकर वे बातें कहो जिनके सम्बन्ध में तुम नहीं जानते।”

—कुरआन, 2:169

इसके बाद कुरआन ने कहा कि यदि मानव को खुदाई क़ानून के अनुसरण की ओर बुलाया जाता है तो वह पूर्वजों की परम्परा का प्रमाण प्रस्तुत करता है, जबकि पूर्वजों की परम्परा कोई प्रमाण नहीं है, जब तक उनके कथनों एवं कर्मों का आधार ईश्वरीय क़ानून न हो। पूर्वजों के तरीके पर ईश-विधान के प्रमाण के बिना जम जाना स्वयं को मानव की पंक्ति से निकालकर पशुओं के झुंड में शामिल कर देना और गूँगों, बहरों और अन्धों की श्रेणी में शामिल हो जाना है—

“... जब उनसे कहा जाता है कि उस चीज़ का अनुसरण करो जो अल्लाह ने उतारी है तो जवाब देते हैं कि हम तो उस तरीके का अनुसरण करेंगे जिसपर हमने अपने पूर्वजों को पाया है। क्या इस दशा में भी कि उनके पूर्वज न कुछ समझते रहे हों और न संमार्ग पर रहे हों? इन इनकार करनेवालों का हाल बिलकुल वैसा ही है जैसे एक व्यक्ति चौपायों के झुंड को पुकारे और वह पुकार और आवाज़ के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सुनता। ये बहरे हैं, गूंगे हैं और अँधे हैं, अतः ये नहीं समझेंगे।”

—कुरआन, 2:170-171

इसके बाद कुरआन ने कहा कि जो लोग ईश्वर की इबादत के दावेदार हैं तो उसकी इबादत केवल इस प्रकार नहीं हो सकती कि इबादत तो उसकी करें, लेकिन हराम और हलाल (वैध-अवैध) अपने मन से निश्चित करते फिरें। उसकी इबादत की अनिवार्य शर्त यह है कि क़ानून-निर्माण और जीवन-यापन की रीति निर्धारित करने का अधिकार केवल उसी के लिए स्वीकार करें—

“ऐ ईमानवालो! खाओ उन पवित्र चीज़ों में से जो हमने तुम्हें प्रदान की हैं

और ईश्वर के कृतज्ञ रहो, यदि तुम उसी की बन्दगी करते हो।”

—कुरआन, 2:172

इसी आधार पर ईश्वर पर ईमान और उसकी बन्दगी के लिए सभी ईश्वरीय धर्मों में इस बात को अनिवार्य शर्त ठहराया गया है कि जीवन के क्रिया-कलाप ईश्वर के उतारे हुए विधान (शरीअत) के अनुसार चलाए जाएँ और ईश्वर की शरीअत को छोड़कर किसी और चीज़ को पथ-प्रदर्शक न बनाया जाए। कुरआन पिछली जातियों का इतिहास बताते हुए सूचना देता है कि यही आदेश यहूदियों को दिया गया था—

“हमने तौरात उतारी जिसमें मार्गदर्शन और प्रकाश है। उसके द्वारा आज्ञाकारी नबी यहूदियों के लिए उनके मामलों का फ़ैसला करते थे, और उसी के द्वारा फ़ैसला करते थे रिब्बी और धर्मज्ञाता। क्योंकि वे ईश्वर की किताब के अमानतदार थे और उसपर साक्षी बनाए गए थे और उनको यह चेतावनी दी गई थी कि लोगों से न डरना और मुझ से ही डरना और मेरी आयतों को थोड़ी-सी पूँजी के बदले न बेचना, और जो उसके अनुसार फ़ैसला न करेंगे जो ईश्वर ने उतारा है तो वे लोग इनकार करनेवाले होंगे।”

—कुरआन, 5:44

फिर कुरआन मजीद सूचित करता है कि बिलकुल ऐसा ही आदेश नसारा (ईसाइयों) को भी दिया गया था कि वे भी ईश्वर की उतारी हुई शरीअत के अन्तर्गत जीवन के मामलों को चलाएँ, अन्यथा फ़ासिक्र (उल्लंघनकारी) ठहरेंगे—

“....चाहिए कि इंजीलवाले फ़ैसला करें उसके अनुसार जो ईश्वर ने उस (इंजील) में उतारा है। और जो लोग ईश्वर के उतारे हुए क़ानून के अनुसार फ़ैसला न करें तो वही लोग उल्लंघनकारी हैं।” —कुरआन, 5:47

फिर बताया गया कि जो आदेश उन जातियों को दिया गया था बिलकुल वही आदेश मुसलमनों को भी दिया जाता है कि जीवन के सभी मामलों को इस किताब के मार्गदर्शन में चलाएँ जो उनकी ओर उतारी गई है—

“....हमने तुम्हारी ओर पूर्ण सत्य पर आधारित किताब उतारी है, उस किताब की पुष्टि में जो इससे पहले से मौजूद है, और उसकी संरक्षक है।

अतः फ़ैसला करो उनके बीच उस चीज़ के अनुसार जो ईश्वर ने उतारी है और सत्य से विमुख होकर उनकी इच्छाओं का अनुसरण न करो।”

—कुरआन, 5:48

बिलकुल यही बात इससे अधिक स्पष्ट रूप से कुरआन की सूरा 6 ‘अनआम’ की आयत 136 से 153 में कही गई है और अन्तिम आयत में यह निर्देश है कि समाज का गठन और व्यवस्था, क़ानून और शरीअत से होता है। इसलिए आवश्यक है कि विधि-निर्माण और शरीअत के प्रबन्ध का अधिकार केवल ईश्वर के लिए माना जाए जो सबका स्रष्टा और सबका शासक है। यदि इस अधिकार में दूसरे भी साझीदार हो जाएँ और प्रत्येक जाति व समाज अपने लिए क़ानून बनाने का अधिकार रखे तो इसका अनिवार्य परिणाम अव्यवस्था और धरती में बिगाड़ है—

“...यह मेरा सीधा रास्ता है, अतः इसी पर चलो और विभिन्न रास्तों पर न चलो कि वे तुम्हें मार्ग से हटा दें। यह है (वह आदेश) जिसकी तुम्हें बसीयत की जाती है, ताकि तुम (पथ-भ्रष्टता से) बचो।”

— कुरआन, 6:153

ईश्वर के साथ किसी को साझीदार न ठहराने और क़ानून बनाने का हक़ अनिवार्य रूप से केवल ईश्वर ही का स्वीकार करने की व्याख्या और आदेश कुरआन की सूरा-16 ‘नहल’ की आयत 54-55 में मौजूद है।

(स) आत्म-पूजा का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और सामान्य रूप यह है कि जो लोग केवल एक लम्बी अवधि तक सम्पन्न और समृद्ध जीवन व्यतीत कर चुके होते हैं और धन-सम्पत्ति और ज्ञान-विज्ञान के संसाधनों पर अधिकार जमाए चले आते हैं, कुछ समय बीतने के बाद, इस सुख-शान्ति की स्थिति को अपना व्यक्तिगत अधिकार और अपने ज्ञान व योग्यता का फल समझने लग जाते हैं। यह मानसिक स्थिति व्यक्ति की हो या समाज की, विष की गाँठ है जिससे असंख्य बुराइयाँ पैदा होती हैं। इसकी तह में उतरकर विचार किया जाए तो वह स्पष्ट शिर्क है, क्योंकि इस दुनियाँ के अन्दर जो कुछ है सबका स्रष्टा ईश्वर है। समस्त साधन और उपकरण उसी के पैदा किए हुए हैं

और इन साधनों और उपकरणों को हम अपने जिन अवयवों, जिन शक्तियों और जिन योग्यताओं द्वारा अपने प्रयोग में लाते हैं वे सब भी ईश्वर-प्रदत्त हैं। कुरआन में है—

“... वही है जिसने तुमको पैदा किया है और तुम्हारे लिए कान, आँख और दिल बनाए हैं, मगर तुम बहुत कम कृतज्ञता दिखाते हो।”

—कुरआन, 67:23

हमारे उत्थान और हमारी परिपूर्णता का कोई स्तर, हमारे ज्ञान एवं प्रतिष्ठा का कोई पद और हमारी महानता व शक्ति का कोई स्थान ऐसा नहीं है जो हमें उसकी बन्दगी और दासता से विमुक्त कर सकता हो। हम सुलैमान¹ व जुलकरनैन² होकर भी उसके आगे वैसे ही मोहताज और साधनहीन हैं जैसे सलमान³ (रज़ि०) और अबू ज़र⁴ (रज़ि०) रहे। मोहताजी और दरिद्रता हमारे अस्तित्वगत गुण हैं जो किसी हाल में भी हमसे अलग नहीं हो सकते चाहे हम कितने ही उच्च पद पर पहुँच जाएँ और कितनी ही शक्ति एवं दबदबा प्राप्त कर लें।

अरब के लोगों की अज्ञानता में शिर्क की यह क्रिस्म भी मौजूद थी। वे अपनी सम्पन्नता और समृद्धि को अपने ज्ञान व उपाय और अपने व्यक्तिगत अधिकार का फल समझते थे। एक तो वे आखिरत के माननेवाले न थे और यदि उसे एक कल्पना के रूप में मानते भी थे तो उसके लिए व्यावहारिक स्तर पर किसी प्रयास और परिश्रम की ज़रूरत नहीं समझते थे। उनका विचार था कि जिस प्रकार हम दुनिया में अच्छी हालत में हैं, उसी प्रकार आखिरत में भी अच्छी हालत में रहेंगे। यह अच्छी हालत में रहना हमारा एक व्यक्तिगत अधिकार है जो किसी स्थिति में भी हमसे छिन नहीं सकता। कुरआन ने इसी मानसिकता का चित्रण किया है—

“जब इनसान को कष्ट पहुँचता है तो हमको पुकारता है, फिर जब हम उसे नेमत प्रदान कर देते हैं तो कहता है: यह तो मुझे अपने ज्ञान के कारण मिली

1. व 2. प्राचीनकाल के दो शक्तिशाली एवं प्रतापी नेक बादशाह।

3. व 4. प्रथम शताब्दी हिजरी के दो सन्त-प्रकृति सहाबा जो बहुत निर्धन थे।

—अनुवादक

है, नहीं, बल्कि यह तो एक परीक्षा है, लेकिन अधिकतर लोग जानते नहीं।”

— कुरआन, 39:49

अर्थात् इनसान कोई वस्तु मात्र भी केवल अपने ज्ञान और योग्यता से नहीं पाता, जो कुछ भी पाता है ईश्वर की दया से पाता है और इसका उद्देश्य परीक्षा लेना होता है कि वह कृतज्ञता प्रकट करता है या कृतघ्नता, लेकिन अधिकतर लोग इस परीक्षा से बेखबर हैं और कृतघ्नता ही दिखाते हैं और जो चीज़ ईश्वर की अनुकम्पा से मिलती है उसे अपनी योग्यता का फल और अपना व्यक्तिगत अधिकार समझने लगते हैं और इस प्रकार ईश्वर की प्रभुता एवं उसके दाता होने के गुण में साझीदार बन बैठते हैं।

यह चीज़ अहंकार और धरती में उपद्रव की जड़ है। इस अहंकारपूर्ण और बहुदेववादी मानसिकता का चित्रण कुरआन में एक दूसरे स्थान पर इस प्रकार किया गया है—

“अगर हम उसको अपनी दया का आस्वादन कराएँ उस कष्ट के बाद जो उसे पहुँचा, तो कहेगा कि यह तो मेरा अधिकार है, मैं तो यह नहीं समझता कि वह क्रियामत की घड़ी घटित होगी और अगर मुझे अपने रब की ओर लौटना ही हुआ तो मेरे लिए वहाँ भी अच्छाई ही अच्छाई है।”

—कुरआन, 41:50

यही मनोवृत्ति है जिसका वर्णन कुरआन ने किया है—

“....मैंने उसे बहुत-सा माल दिया और साथ देनेवाले बेटे दिए और उसकी जड़ जमाई, फिर वह आशा करता है कि मैं आखिरत में भी उसको और अधिक दूँगा।”

—कुरआन, 74:12-15

अन्तिम वाक्यांश — ‘फिर वह आशा करता है कि मैं आखिरत में भी उसको और अधिक दूँगा’ का मतलब यह है कि वह विचार करता है कि यदि कल्पना के स्तर पर ही सही, ईश्वर के पास जाना ही हुआ तो मुझे दुनिया में जो कुछ प्राप्त है उससे अधिक वहाँ प्राप्त होगा, क्योंकि वह इस सारी बड़ाई और सम्पन्नता का अपने को पात्र समझता है, उसको ईश्वर की देन और परीक्षा नहीं समझता।

इसी मानसिकता का चित्रण कुरआन की इन आयतों में किया गया है—

“इन इनकार करनेवालों को क्या हो गया है कि तुम्हारे ऊपर दाएँ-बाएँ से दल के दल पिले पड़ रहे हैं, क्या इनमें से प्रत्येक यह आशा लिए बैठा है कि वह जन्नत में प्रवेश करेगा! कदापि नहीं, हमने इनको उस चीज़ से पैदा किया है जिसको वे जानते हैं।” —कुरआन, 70:36-39

यह चित्र है उस स्थिति का जो कुरआन के प्रचार के समय नबी (सल्ल०) के सामने आती थी। प्रभुत्वशाली लोगों के अपमान, उनके कर्मों के परिणाम और दण्ड की आयतें जब आप (सल्ल०) सुनाते तो कुरैश के सरदारों को कड़ी चोट लगती। उनके लिए यह कल्पना अत्यन्त कष्टदायक थी कि एक दिन ऐसा भी आनेवाला है जिसमें ऊँच-नीच की तुला ईमान (आस्था) और सद्ब्यवहार के हाथ में होगी और एक गरीब से गरीब किसान और छोटे से छोटा मज़दूर भी अपनी बन्दगी और आज्ञापालन के प्रतिकार में बड़े से बड़े सरदारों के लिए ईर्ष्या योग्य होगा। वे जब कुरआन की ये आयतें सुनते तो उनका खण्डन करते और उनकी हँसी उड़ाने के लिए मनोवेग में चारों ओर से मुहम्मद (सल्ल०) पर पिल पड़ते और स्वत्वाधिकार के घमण्ड में, जो एक विरासत में मिलनेवाली सम्पन्नता और सरदारी का स्वाभाविक परिणाम है, यह कहते कि यदि हम ईश्वर के यहाँ जाएँगे तो वहाँ भी इन नीच लोगों से अच्छे ही रहेंगे। हमें जो कुछ प्राप्त है हमारी व्यक्तिगत पात्रता का फल है। यह किसी जगह भी हमसे नहीं छिन सकता— न दुनिया में, न आखिरत में। हम पैदा ही इसलिए हुए हैं कि शासन करें, ऐशो-आराम करें और लोगों पर उच्चता और वरिष्ठता प्राप्त करें। कुरआन ने इसका जवाब इन शब्दों में दिया है—

“कदापि नहीं, हमने उनको पैदा किया है, उस चीज़ से जिसको वे भली-भाँति जानते हैं।” —कुरआन, 70:39

‘जिसको वे जानते हैं’ अर्थात् बताने की आवश्यकता नहीं है, उसकी सारहीनता और तुच्छता उनपर अच्छी तरह स्पष्ट है। अपवित्र पानी की एक बूँद से पैदा होनेवाले के लिए अपनी श्रेष्ठता और पवित्रता, अपनी वैयक्तिक

पात्रता और उत्तराधिकार और कुलीनता का यह दम्भ शोभा नहीं देता, जिस मानव की समस्त शक्तियाँ और सम्पूर्ण योग्यताएँ बचपन और बुढ़ापे की दो निर्बलताओं के बीच स्थित हैं—

“... परमेश्वर ही है जिसने तुमको पैदा किया निर्बलता से, निर्बलता के बाद शक्ति प्रदान की, और फिर शक्ति के बाद निर्बलता और बुढ़ापा दिया।”
—कुरआन, 30:54

— उस मानव के लिए यह बात उचित नहीं है कि वह स्वयं को बन्दगी से उच्च, कर्म व आज्ञानुसरण से बेपरवाह और खुदाई में अपने को भागीदार समझने लगे।

यही तथ्य कुरआन की सूरा-53 ‘नज्म’ में अत्यन्त कोमल शैली में वर्णित हुआ है—

“....परमेश्वर ही के लिए है जो कुछ आकाशों और जो कुछ धरती में है, ताकि जिन लोगों ने बुराई की है उनको उनकी बुराई का बदला दे और जिन लोगों ने भलाई की है उनको उनकी भलाई का उत्तम बदला दे, अर्थात् उन लोगों को जो घोर अपराधों और प्रत्यक्ष व्यभिचारों से बचते रहे, मगर कभी (भूल-चूक से) उसकी छूत लग गई (तो और बात है)। निस्संदेह तेरा रब अत्यन्त क्षमाशील है। वह तुम्हें भली-भाँति जानता है जबकि तुमको धरती से पैदा किया और जब तुम अपनी माताओं के गर्भ में भ्रूणावस्था में थे। अतः अपनी पवित्रता के दावे न करो, वह खूब जानता है उन लोगों को जिन्होंने धर्मपरायणता (परहेजगारी) अपनाई।’ —कुरआन, 53:31-32

इससे ऊपरवाली आयत में फ़रिश्तों के सिफ़ारिशी होने का खण्डन था। इसके बाद पुरस्कार व दण्ड के सत्य होने का वर्णन किया गया और बताया गया कि ईश्वर के यहाँ की सफलता केवल उन लोगों के लिए है जो बड़े गुनाहों, अपराधों और अश्लील कर्मों से बचते रहें और यदि कभी इस तरह की किसी गन्दगी पर पैर पड़ जाएँ तो वे उसे क्षमा-याचना और पश्चाताप के ग्लानियुक्त आँसुओं से धो डालें। शेष रहे वे लोग जो व्यक्तिगत पात्रता के दंभ में पड़े हैं, स्वयं को बड़ी चीज़ बल्कि जन्त का जन्म-सिद्ध अधिकारी समझ रहे हैं, उन्हें मालूम होना चाहिए कि ईश्वर उनके उस समय से भी

परिचित है जब उसने उन्हें मिट्टी से पैदा किया और जब वे पानी की एक बूँद की शकल में अपनी माँओं के पेटों में पड़े और फिर एक माँस के लोथड़े तथा भ्रूण का रूप धारण किया। ऐसे निर्बल और तुच्छ अस्तित्व के लिए, जिसका आरंभ इतना तुच्छ है, शोभा नहीं देता कि वह अपनी श्रेष्ठता के दम्भ में ग्रस्त हो। जिसके पास जो कुछ भी है सब ईश्वर-प्रदत्त है, एक कण भी किसी व्यक्ति के सामर्थ्य एवं योग्यता का फल नहीं।

इसी बहुदेववादी मनोवृत्ति का चित्रण कुरआन में एक दूसरी जगह किया गया है—

“उनके लिए दो व्यक्तियों की मिसाल बयान करो। उनमें से एक को हमने अंगूर के दो बाग़ दिए, उनको खजूर के वृक्षों से घेरा और उनके बीच खेती उगाई। दोनों बाग़ ख़ूब फल लाए और कुछ कमी नहीं की। हमने उनके बीच एक नहर प्रवाहित कर दी, उस (बाग़) में फल आए तो उसने अपने साथी से कहा और वह उससे अपनी श्रेष्ठता का दंभ भर रहा था: ‘मैं तुमसे धन में बढ़कर हूँ, और मुझे जनशक्ति भी अधिक प्राप्त है।’ और वह अपने बाग़ में आया और वह स्वयं अपनी जान पर संकट ला रहा था और बोला: ‘मैं नहीं समझता कि यह बाग़ कभी बरबाद हो सकेगा और मैं क्रियामत के होने पर भी विश्वास नहीं रखता और अगर मुझे अपने रब की ओर जाना ही हुआ तो इससे अच्छा ठिकाना पाऊँगा।’ उसके साथी ने जवाब में कहा: क्या तुमने उस ख़ुदा के प्रति कृतघ्नता की जिसने तुमको मिट्टी से बनाया फिर पानी की एक बूँद से, फिर एक पुरुष बनाकर खड़ा किया, लेकिन मेरा प्रभु तो वही परमेश्वर है और मैं किसी को अपने प्रभु का साझी नहीं ठहराऊँगा।”

— कुरआन, 18:32-38

यह एक गर्वोक्ति और अहं का चित्र है जो अरब के सामाजिक जीवन में बड़ा महत्व रखता था और जिसके लिए अरबी साहित्य में पारिभाषिक शब्द ‘मुफ़ाख़िरत’ है। इसपर विचार कीजिए तो एक ऐसे ज़ेहन की तमाम ख़राबियाँ इसमें प्रकट हो गई हैं जो व्यक्तिगत पात्रता के घमण्ड में ग्रस्त हो। इसके जवाब में दूसरे एकेश्वरवादी बन्दे ने ठीक वही बात कही है जो ऊपर सूरा-53 ‘नज्म’ और सूरा-70 ‘मआरिज’ की आयतों में आ चुकी है। अर्थात् उसके सृजन और उसके मूल की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि जिस

इनसान का मूल मिट्टी है, जो अपने आरंभ में मात्र अपवित्र पानी की एक बूँद है, उसके लिए व्यक्तिगत पात्रता का शब्द सर्वथा निरर्थक है। और फिर बहुत सुन्दरता से यह बात स्पष्ट की गई है कि यह गर्व और व्यक्तिगत पात्रता का घमण्ड वास्तव में शिर्क है। जो व्यक्ति यह घमण्ड रखता है वह स्वयं को खुदाई में साझीदार बनाता है। फिर उसने स्वयं को इस शिर्क से बरी किया है—

“लेकिन मेरा प्रभु तो वही परमेश्वर है और मैं किसी को अपने प्रभु का साझी नहीं ठहराऊँगा।” — कुरआन, 18:38

बाद की आयत में अपने बारे में ग़लत धारणा रखनेवाले उस घमण्डी के बाग़ के विनाश का वर्णन है जिसपर उस व्यक्ति के द्वारा व्यक्त किए गए संताप को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

“ऐ काश, मैं किसी को अपने पालनहार का साझी न ठहराता !”

— कुरआन, 18:42

इससे मालूम होता है कि जब तक धन-शक्ति और ऐश्वर्य की चकाचौंध बाक़ी रही, आँखें बन्द-रहीं, उस समय तक अपनी शक्ति और सामर्थ्य पर गर्व था, अपने जन-बल और पक्ष पर घमण्ड था, अपने सेवकों और प्रभुत्व का अभिमान था, लेकिन जब बाग़ उजड़ गया और न जन-बल और पक्ष कुछ काम आ सके न सेवक व शानो शौकत— तो इन समस्त बुतों का मिथक उसपर स्पष्ट हो गया और फिर उसने पश्चाताप किया कि हाय मेरा दुर्भाग्य, मैंने क्यों उनको अपने पालनहार का साझी ठहराया!

जिन मस्तिष्कों में यह घमण्ड बसा हुआ हो उनका पूर्णतः असन्तुलित हो जाना एक बिलकुल स्वाभाविक बात है। उनके स्वयं के ईश्वर बनने की आधारशिला रेत पर होती है। जब ईश्वर की शक्ति उनको ज़रा-सा झंझोड़ देती है तो गर्व और घमण्ड की जगह उनपर निराशा और खिन्नता छा जाती है। लेकिन ज्यों ही परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, धन-सम्पत्ति फिर मिल जाती है, शक्ति और वैभव की चमक-दमक फिर दिखाई देने लगती है, मन में दबी हुई ‘खुदाई’ फिर जाग उठती है और वे कुरआन के शब्दों में

‘अकड़नेवाले और घमण्ड करनेवाले’ बनकर धरती में फिर उपद्रव मचाने और खुदा के बन्दों से खुदा की खुदाई की जगह अपनी खुदाई मनवाने में अपनी सारी शक्ति व सामर्थ्य लगा देते हैं—

“वही है जो तुम्हें थल और जल में यात्रा कराता है। यहाँ तक कि जब तुम नौका में सवार होते हो और वह अनुकूल हवा से चल रही होती है और वे उससे प्रसन्नचित्त होते हैं। इतने में एक प्रचण्ड हवा आती है और उन्हें चारों ओर से लहरें घेर लेती हैं और वे समझने लगते हैं कि हम विनष्ट हुए, तो अल्लाह (ईश्वर) को पुकारते हैं उसी के लिए अपनी आज्ञाकारिता को आरक्षित करते हुए कहते हैं कि अगर तूने हमको इस विनाश से मुक्ति दे दी तो हम अवश्य कृतज्ञता दिखाएँगे। फिर जब हम उनको बचा लेते हैं तो वे धरती में विद्रोह करने लगते हैं बिना किसी औचित्य के।”

— कुरआन, 10:22-23

यही बहुदेववादी मानसिकता है जिसका उल्लेख कुरआन की इन आयतों में है —

“खुदा ने जो कुछ तुझे प्रदान किया है उससे परलोक का घर बनाने की चिन्ता कर और दुनिया के अन्दर से अपना हिस्सा न भूल और उपकार कर जैसा कि ईश्वर ने तेरे साथ उपकार किया है और धरती में बिगाड़ पैदा न कर, ईश्वर बिगाड़ पैदा करनेवालों को पसन्द नहीं करता। तो उसने कहा: ये सब कुछ तो मेरे ज्ञान के कारण मुझे मिला है।”

— कुरआन, 28:77-78

कुरआन में एक अन्य स्थान पर है —

“लेकिन इनसान को जब उसका रब आज्ञामाइश (परीक्षा) में डालता है तो उसको सम्मान और नेमत प्रदान करता है, तब वह कहता है कि मेरे प्रभु ने तुझे प्रतिष्ठित कर दिया। और जब वह उसको आज्ञामाइश में डालता है और उसकी आजीविका में कमी कर देता है तो वह कहता है कि मेरे प्रभु ने मुझे अपमानित कर दिया।”

—कुरआन, 89:15-16

अर्थात् या तो यह समझकर कि मैं सम्मान योग्य हूँ और जो कुछ मुझे मिला है मेरी पात्रता का फल है, अभिमानी और घमण्डी हो जाता है और धरती में अकड़ने और बिगाड़ पैदा करने लगता है या दूसरी स्थिति में यह

समझकर कि ईश्वर ने मुझे बिलकुल निकम्मा और अपमानित कर दिया है, निराश और असफल हो जाता है और आत्म-सम्मान का वह गुण भी खो बैठता है जो समाज के अन्दर उसको एक स्वाभिमानी और सम्मानित इन्सान का स्थान दिला सके।

यह असन्तुलन केवल इस शलती का नतीजा है कि इन्सान ईश्वर-प्रदत्त अनुग्रहों को अपनी व्यक्तिगत पात्रता और अपनी योग्यताओं तथा प्रयत्नों का फल समझने लगता है। यह धारणा एक अनेकेश्वरवादी धारणा है। एकेश्वरवादी धारणा यह है कि इन्सान कठिनाई और आसानी, सम्पन्नता और विषमता दोनों को ईश्वर की ओर से समझे, इन दोनों में अपने लिए परीक्षा समझे। अगर उसे सम्पन्नता प्राप्त हो तो वह यह सोचे कि यह मेरी कृतज्ञता की परीक्षा है। विपन्नता और तंगी की स्थिति में यह विचार रखे कि यह उसके सब्र और धैर्य की परीक्षा है। इन दोनों परिस्थितियों में एक बन्दे का पूरा धर्म परीक्षा की कसौटी पर जाँचा जाता है, क्योंकि धर्म वास्तव में धैर्य और कृतज्ञता के योग ही का नाम है। जिस व्यक्ति की सोच यह होगी अनिवार्यतः उसका मन संतुलित रहेगा, न वह कठिनाई में घबराएगा और न सम्पन्नता और खुशहाली के समय अभिमानी और घमण्डी होगा। वह जब शत्रुओं के घेरे में होगा और उसके सिर के लिए बड़े-बड़े पुरस्कारों का एलान होगा तो ठीक उस समय जबकि अन्तिम खतरा बिलकुल सामने होगा वह अपने एकमात्र साथी को इन शब्दों में तसल्ली देगा —

“ग़म न कर परमेश्वर हमारे साथ है।”¹ (कुरआन, 9:40)

और ठीक उस समय जबकि हज़ारों इन्सानों की विशाल सेना के बीच उसके एक महान सम्राट होने का भ्रम हो रहा होगा, उसका पवित्र माथा घोंड़े

1. जान के प्यासे शत्रुओं से बचने के लिए (मक्का से मदीना प्रस्थान के समय) एक पहाड़ी खोह (गारे-सौर) में छिपे हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) की वह बात जो आप (सल्ल०) ने अपने साथी हज़रत अबू बक्र (रज़ि०) से उस समय कही थी जब दुश्मन खोह तक आ पहुँचे थे और हज़रत अबू बक्र (रज़ि०) उन्हें देखकर आप (सल्ल०) के बारे में चिंतित हो गए थे।

—अनुवादक

की ज़ीन पर ईश्वर के आगे झुका हुआ होगा।¹ ऐसी सन्तुलित आत्मा के लिए कुरआन ने “नफ़से भुतमइन्नह” यानी “परितुष्ट आत्मा” का शब्द प्रयोग किया है—

“ऐ परितुष्ट आत्मा, तू लौट अपने रब की ओर खुशी-खुशी और मनोवाँछित स्थिति में और सम्मिलित हो जा मेरे बन्दों (दासों) में और प्रवेश कर मेरी जन्नत में।”

— कुरआन, 89:27-30

1. मक्का विजय के समय हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) की स्थिति को यहाँ आदर्श रूप में चित्रित किया गया है।

—अनुवादक

3. अहले-किताब का अनेकेश्वरवाद

अहले-किताब के दो गिरोहों यहूदी और ईसाइयों का वर्णन कुरआन ने किया है। ये लोग हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) की रिसालत (ईशदूतत्व) के अतिरिक्त धर्म की उन समस्त आधारभूत बातों को मानते थे जिनपर ईमान लानेवाले की दावत कुरआन देता था। यहाँ तक कि तौहीद (एकेश्वरवाद) की धारणा भी उनके और मुसलमानों के बीच मान्य थी। न ये लोग सिद्धान्ततः इसका इनकार करते थे और न तौरात और इंजील के स्पष्टीरण के होते हुए इसका इनकार संभव था। लेकिन इस सर्वमान्य तथ्य पर ईमान रखने के बावजूद वे बहुत-से ऐसे कर्मों और धारणाओं में ग्रस्त थे जिनके कारण कुफ्र और शिर्क में पड़ना अवश्यम्भावी था। कुरआन ने इस सर्वमान्य तथ्य को वार्ता का आधार ठहराकर, उनसे माँग की कि वे अपने कर्मों और धारणाओं को विरोधाभास से मुक्त कर लें। या तो तौहीद (एकेश्वरवाद) का इनकार कर दें कि उसकी अपेक्षाओं को पूरा करने से अपने आपको मुक्त करके जिस घाटी में चाहें ठोकरें खाएँ या उसकी अपेक्षाओं और अनिवार्यताओं को भी स्वीकार करें और इसी रौशनी में अपने समस्त कर्मों और धारणाओं की समीक्षा करें और धर्म के विरुद्ध नई और विधर्मता की जो बातें उनमें तौहीद के बिलकुल विरुद्ध और विपरीत पैदा हो गई हैं, उनको दूर करें।

यह बात बताई जा चुकी है कि अरबवासियों से वार्ता का आरंभ इस बिन्दु से हुआ था कि जब धरती व आकाश का स्रष्टा, शक्तियों एवं सामर्थ्यों का आविष्कारक, धरती व आकाशों का नियंता एवं प्रबन्धक ईश्वर ही है और तुम्हें इन मान्यताओं से इनकार नहीं है तो फिर ऐसी बातें क्यों मानते हो जो इन सभी मान्यताओं के ताने-बाने उधेड़कर रख देती है। बिलकुल इसी प्रकार एक क्रदम आगे बढ़कर अहले किताब से मूलतः तौहीद की धारणा को केन्द्र-बिन्दु मानकर वार्ता का आरंभ हुआ कि यदि यह धारणा हमारे और तुम्हारे बीच मान्य है तो आओ इसी कसौटी पर अपने खरे-खोटे की परीक्षा कर लें। कहा गया —

“कहो ऐ अहले किताब! आओ उस एक बात की ओर जो हमारे और

तुम्हारे बीच समान है कि हम ईश्वर के सिवा किसी की बन्दगी न करें और न किसी को उसका साझी ठहराएँ और हममें से कोई ईश्वर के सिवा किसी और को अपना रब न बनाए। अतः यदि वे इससे मुँह मोड़ें तो कह दो कि हम तो ईश्वर के आज्ञाकारी हैं।
—कुरआन, 3:64

इससे मालूम हुआ कि एक ही ईश्वर की बन्दगी करना, किसी चीज़ को उसका साझी न मानना, किसी को ईश्वर के सिवा रब न ठहराना, अहले-किताब और मुसलमानों के मध्य सर्वमान्य था। इनमें से किसी एक बात से भी न यहूदियों का मतभेद था न ईसाइयों का। लेकिन किसी को रब न मानने का अभिप्राय वे केवल यह समझते थे कि किसी को ईश्वर के सिवा रब कहकर न पुकारा जाए। उनके निकट ईश्वर की प्रभुता में इससे कोई अन्तर नहीं आता था कि जो अधिकार व गुण केवल ईश्वर के लिए विशिष्ट हैं उनमें दूसरों को भी सम्मिलित कर लिया जाए। उदाहरणार्थ धर्म-विधान और क़ानून-निर्माण ईश्वर के विशिष्ट अधिकारों में से है और किसी के लिए भी यह बात वैध नहीं है कि उसके इस अधिकार में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करे। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करता है तो वह ईश्वर के ईश्वरत्व में भागीदारी का दुस्साहस करता है और यदि हम स्वयं उसके लिए यह अधिकार मानते हैं तो चाहे ज़बान से हम उसको ईश्वर या रब न कहें, लेकिन वास्तव में हम उसको ईश्वर के शासकीय अधिकार और प्रभुत्व में भागीदार मानते हैं। किन्तु यहूदी और ईसाई ईश्वर के इस अधिकार में दूसरों को साझी बनाने में कोई दोष नहीं मानते थे। अतएव कुरआन ने इसी आधार पर यहूदियों और ईसाइयों दोनों ही को इस बात का अपराधी ठहराया कि वे अपने धर्म-गुरुओं और धर्मशास्त्रियों को ईश्वर के अतिरिक्त रब ठहराते हैं —

“उन्होंने अपने आलिमों (धर्मगुरुओं) और संतों को ईश्वर से हटकर अपना रब ठहरा लिया है और मरयम के बेटे मसीह को भी, जबकि उनको आदेश नहीं दिया गया है, सिवाय इस बात का कि एक ही खुदा की बन्दगी करें, वह पाक (पवित्र) है उन चीज़ों से जिन्हें ये खुदा का शरीक ठहराते हैं।”

—कुरआन, 9:31

इस आयत से सम्बन्धित हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के कथनों में अदी-

बिन-हातिम (जो ईसाई धर्म से इस्लाम में आए) के एक प्रश्न का उल्लेख है। उन्होंने नबी (सल्ल०) से पूछा, “यहूदी और ईसाई अपने आलिमों और संतों को रब तो नहीं कहते!” नबी (सल्ल०) ने जवाब दिया, “क्या यह बात नहीं है कि अल्लाह ने जो चीजें हलाल ठहराई हैं उनको वे हराम ठहराते हैं तो तुम उनको हराम कर लेते हो और जिन चीजों को अल्लाह ने हराम किया है उनको वे हलाल कर देते हैं तो तुम उनको हलाल मान लेते हो?” अदी-बिन-हातिम ने कहा, “हाँ यह बात तो है।” नबी (सल्ल०) ने कहा, “यही उनकी बन्दगी (यानी, उनको रब बनाना) है।”

इससे ज्ञात हुआ कि अदी-बिन-हातिम को यह भ्रम था कि जब तक ज़बान से किसी के खुदा होने का इक्कार न किया जाए उस समय तक वह खुदा और रब नहीं होता और जब तक किसी की परम्परागत उपासना न की जाए उस समय तक वह उपास्य नहीं बनता। पैग़म्बर (सल्ल०) ने इस भ्रम को इस प्रकार दूर किया है कि किसी को खुदा कहो या न कहो, यदि वह अधिकार उसको देते हो जो खुदा के लिए विशिष्ट है तो बिना इसके कि तुम ज़बान से उसको रब और पूज्य कहो, उसको रब मान रहे हो और बग़ैर इसके कि उसकी पूजा की परम्परागत रीति अपनाओ, उसकी पूजा कर रहे हो। क़ानून और शरीअत बनाना केवल परमेश्वर ही के लिए विशिष्ट है। इस पद पर तुम जिसको आसीन कर दो वह खुदा बन जाएगा और तुम उसके बन्दे बन जाओगे, ज़बान से उसको बन्दा कहो या खुदा।

आयत की सही व्याख्या समझने के लिए यह स्पष्टीकरण काफ़ी है। लेकिन इसकी और अधिक व्याख्या के लिए कुछ उपयोगी बातों का वर्णन करना अप्रासंगिक न होगा।

इस आयत में यहूदियों और ईसाइयों के दो प्रकार के शिर्क का वर्णन हुआ है — अहबार व रोहबान (संत और धर्मगुरु) को रब बनाना और हज़रत मसीह (अलै०) को रब बनाना। हम इन दोनों बातों पर संक्षेप में वार्त्ता करेंगे।

(1) धर्माचार्य-पूजा

यहूदियों के सम्बन्ध में यह बात मालूम है कि उन्होंने अपनी शरीअत (धर्म-विधान) की बहुत-सी बातें भुला दी थीं —

“जो शिक्षा उन्हें दी गई थी उसका एक भाग वे भूल चुके हैं।”

— कुरआन, 5:13

अर्थात् बहुत से स्थानों पर फेर-बदल कर डाला था। जैसे जहाँ बनी इसमाईल (हज़रत इसमाईल अलै० के वंशज) के अन्दर एक अन्तिम नबी के आने का इब्राहीमी क्रिबला या कुरबानी के स्थान आदि का वर्णन था, बहुत-से आदेश उन्होंने छिपा दिए थे। विशेषतः जो आदेश व्यभिचार (ज़िना), चोरी, हत्या आदि के दण्ड से सम्बन्धित थे, उनमें से बहुतों पर उन्होंने शरीअत की ग़लत व्याख्या के पर्दे डाल दिए थे। बहुत-से धमदिश (फ़तवे) ईश्वरीय क़ानून के विरुद्ध मात्र सांसारिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए लिखते थे और फिर उनके सम्बन्ध में यह दावा करते थे कि ये वास्तव में ईश्वरीय ग्रंथ तौरात के विधि-विधान हैं। ये सभी बातें कुरआन मजीद में विस्तारपूर्वक वर्णित हुई हैं। स्पष्ट है कि उनकी शरीअत के इन समस्त क्षेत्रों में ख़ुदा की हाकमियत पूरी तरह लुप्त हो चुकी थी और उसकी जगह उनके आलिमों और धर्मशास्त्रियों के स्वनिर्मित आदेशों और विधानों ने ले ली थी।

इसी तरह बाइबल के इतिहास और यहूदियों की न्याय-व्यवस्था और क़ानून बनाने की रीति-नीति के अध्ययन से मालूम होता है कि उनके यहाँ 'इजतिहाद' का पूर्णतः अभाव था। क़बीलों में जो क़ाज़ी (न्यायाधीश) विवादों का फ़ैसला करने के लिए नियुक्त थे, वे नई समस्याओं में, जिनके बारे में कोई स्पष्ट आदेश तौरात में मौजूद न होता, यह नहीं करते थे कि तौरात के आदेश और अपने नबी के फ़ैसले सामने रखकर इजतिहाद कर लें और इस्लामी सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर की इच्छा के अनुकूलतम बात मालूम

1. इजतिहाद : जिन मामलों में धर्म का स्पष्ट आदेश न हो, उनके सम्बन्ध में धर्म की मूल भावना और सिद्धान्त को सामने रखते हुए, धमदिश निश्चित करना।

—अनुवादक

करने की कोशिश करें। उनका तरीका यह होता था कि ये विवाद को सर्वोच्च ज्योतिषाचार्य के समक्ष प्रस्तुत कर देते। सर्वोच्च ज्योतिषाचार्य (काहिन) ईश्वर की इच्छा मालूम करने का एक नैसर्गिक ईश्वरीय साधन समझा जाता था। सर्वोच्च ज्योतिषाचार्य यह करता कि वह पूजा-गृह में पवित्रतम स्थान के अन्दर जाता जहाँ ताबूत¹ एक पर्दे के पीछे रखा हुआ होता। यह स्थान ईश्वरीय प्रकाशना का केन्द्र माना जाता था। वहाँ पहुँचकर ज्योतिषाचार्य को 'यहोवाह' (ईश्वर) के आदेशों के संकेत मिलते। वह इन आदेशों से लोगों को सूचित करता और लोगों पर उनका पालन करना अनिवार्य होता। ऐसी उनकी मान्यता थी।

बलंचली (Bluntchly) अपनी पुस्तक 'दि थ्योरी ऑफ़ दि स्टेट' (The Theory of the State) में धार्मिक शासन (Theocracy) के परिच्छेद में लिखता है—

“ईश्वरीय क़ानून एक स्वर्णमंडित सन्दूक में रखा रहता जिसकी दो कर्बूबी (फ़रिश्ते) रक्षा करते और जिसका आदर ईश्वरीय प्रकाशना के केन्द्र की हैसियत से किया जाता था। ताबूत तम्बू के अन्दर एक पर्दे के पीछे पवित्रतम स्थान में रहता था और काहिनों (ज्योतिषाचार्य) की ओर से सुचारु रूप से उसकी रक्षा की जाती थी। यही सर्वोच्च ज्योतिषाचार्य यहोवाह (ईश्वर) के आदेश मालूम करता और लोगों को सूचित करता।”

“क़ाज़ी (न्यायाधीश), जो क़बीलों में शरीअत का पालन कराने पर नियुक्त थे, यह काम ईश्वर के नाम से करते थे, क्योंकि क़ानून बनाने का अधिकार केवल ईश्वर के लिए खास था। यदि उनके सामने कोई प्रकरण ऐसा आ जाता जिसका फ़ैसला उनके लिए कठिन होता तो उसमें उनके लिए आवश्यक होता था कि लादियों² के द्वारा ईश्वर की इच्छा मालूम करें।”

यह विधि पूर्णतः मूर्तिपूजक जातियों की नक्क़ाली है और यहूदियत ने

-
1. यह सन्दूक जिसमें हज़रत मूसा (अलै०) की छोड़ी हुई पवित्र यादगार चीज़ें जैसे उनकी लाठी आदि रखी हुई थीं।
 2. हज़रत मूसा (अलै०) के भाई हज़रत हारून (अलै०) के वंशज जो काहिनों का काम करते थे।

— अनुवादक

अपने बिगाड़ के युग में इसे अपनाया। जिस प्रकार मिस्र, इराक़, नैनवा आदि के बुतखानों में पुजारी और पुरोहित किसी महत्वपूर्ण ज़रूरत के समय अपने उपास्यों के सामने जाकर ग़ैबी आवाज़ की ज़बान से, उन उपास्यों की मज़ीं मालूम करते थे। या जिस प्रकार अरबवासी अपने देवताओं के सामने शकुन के तीरों के माध्यम से उनके आदेश और निर्णय मालूम करते थे, उसी प्रकार यहूदियों ने भी ताबूत को एक पूज्य बना लिया था। जिस मामले में उनको कठिनाई होती, सर्वोच्च ज्योतिषाचार्य ताबूत के सामने जाकर खुदा के आदेश और फ़ैसले मालूम कर लेता। मात्र ताबूत के सामने उपस्थिति दैवी इच्छा के लिए पर्याप्त समझी जाती थी। काहिनों को वे निर्दोष समझते थे और यह मानते थे कि इन्हें दैवी प्रेरणा प्राप्त होती है। इस रीति का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि लादी वंश 'ईश्वर के अतिरिक्त अन्य खुदा' बन बैठे और उनके सभी प्रकार के भ्रमों और विचारों ने क्रानून और शरीअत का दर्जा प्राप्त कर लिया।

ईसाइयों के यहाँ की रीति इससे भी अधिक भद्दी है। ईसाइयों की वास्तविक स्थिति यहूदियों के एक सुधरे हुए सम्प्रदाय की थी, न कि एक स्थाई समुदाय की। हज़रत ईसा (अलै०) ने स्वयं कहा है कि मैं तौरात को निरस्त करने नहीं बल्कि उसे पूर्ण करने आया हूँ। यह भी कहा है कि जब तक इसकी सभी बातें पूरी न हो लें एक बिन्दु भी अपने स्थान से टल नहीं सकता। यही कारण है कि उन्होंने कोई नई शरीअत नहीं दी, बल्कि अपने अनुयायियों को केवल धर्म की आत्मा की शिक्षा दी और विधि-विधान में उसी धर्म का अनुकरण करने की आज्ञा दी जो तौरात में विद्यमान था। केवल यहूदियों द्वारा की गई धर्म-विरुद्ध नई बातों में सुधार किया।

ईसाइयों के प्रारंभिक इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि आरंभ में हज़रत ईसा (अलै०) के उत्तराधिकारियों की हैसियत यही थी। वे विधि-विधान में पूर्णतः तौरात का अनुसरण करते थे, लेकिन पॉल (पोलुस) ने मसीहियत (ईसाइयत) के सम्पूर्ण वाह्य और अन्तःकरण को बिलकुल विकृत कर डाला। उसने ईसाइयों को एक स्थाई नाम और एक स्थाई समुदाय की हैसियत से विभेदित किया और तौरात के आदेशों का पालन केवल बनी

इसराईल (याकूब अलै० के वंशज) के लिए निश्चित कर दिया। इसराईल के अतिरिक्त लोगों के लिए तौरात का पालन निरस्त करके शराब और सूअर आदि को वैध कर दिया। हज़रत ईसा (अलै०) के सच्चे उत्तराधिकारियों ने इन विषयों पर उससे बड़े-बड़े शास्त्रार्थ किए, लेकिन पॉल ने ईसाइयत में जो धर्म के प्रतिकूल बातें सम्मिलित कीं वे रूमियों आदि की रुचि को इतना भानेवाली थीं कि अन्ततः उन्हीं को बढ़ावा मिला। इस तरह मसीहियत (ईसाइयत) को एक स्थाई समुदाय की हैसियत प्राप्त हो गई, लेकिन एक ऐसे समुदाय की जो किताब और शरीअत से वंचित है, क्योंकि इंजील विधि-विधान से पूर्णतः रिक्त है। और तौरात के अनुसरण से पॉल ने उनको मुक्त कर दिया। परिणाम यह निकला कि जीवन के सारे मामलों में ईसाई ईश्वर के बदले अपने धर्माचार्यों के प्रचारित अधार्मिक नियमों का अनुसरण करने लगे। धर्माचार्य जो कुछ कहते वही ईश्वर का आदेश बन जाता। कुस्तनतीन के समय से जब रूमी सम्राटों की तलवार ईसाइयत की शत्रुता के स्थान पर उसके सहयोग का काम करने लगी, तो पोप की प्रतिष्ठा का यह हाल हुआ कि एक ओर पोप के आदेश भेजे जाते और दूसरी ओर सम्राट का शासनादेश जारी होता कि इन आदेशों का सर्वशक्तिमान ईश्वर के आदेशों की हैसियत से पालन किया जाए। अन्ततः यह स्वर इतना उच्च हुआ कि पवित्र धर्माचार्यों को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि ये धरती पर जिस चीज़ को अवैध ठहराते उनके विचार में वह आकाश पर भी अवैध हो जाता और ये धरती पर जो वैध ठहराते उनके विचार में वह आकाश पर भी वैध हो जाता। उनकी ज़बान ईश्वरीय इच्छा की अनुवादक बन गई। यहाँ तक कि ये धरती पर जिसको मोक्ष प्रदान करते उसे आकाश पर भी मोक्ष प्रदान कर दिया जाता। दूसरे शब्दों में इसका मतलब यह हुआ कि ये खुदा के आदेशों के अनुपालक नहीं, (ईश्वर क्षमा करे) बल्कि मानो स्वयं खुदा उनके आदेशों का पालन करता था।

(2) हज़रत ईसा (अलै०) को रब बनाना

इसी प्रकार ईसाइयों ने हज़रत ईसा (अलै०) को भी रब बना लिया।

ईसाइयों के तर्कशास्त्र और धार्मिक वाद-विवाद के इतिहास से पता चलता है कि इस बिगाड़ का प्रवर्तक भी पॉल ही है। ईसा (अलै०) के शिष्य, जैसा कि मालूम है, अशिक्षित लोग थे। इसके विपरीत पॉल यूनानी सूफीवाद और यूनानी आध्यात्मवाद में सिद्धहस्त (माहिर) था। उसने इंजील की टीका एक नए रंग से पेश की और दावा किया कि मेरे लिए मसीह के अनपढ़ शिष्यों के शब्दों का अनुसरण करना आवश्यक नहीं है जो तथ्यों और रहस्यों को समझने में बिलकुल असमर्थ थे, बल्कि मेरा ज्ञान सीधे अलौकिक दर्शन (Vision) द्वारा स्वयं ईसा से प्राप्त है। मजे की बात यह है कि पॉल इबरानी भाषा से, जो इंजील की मूल भाषा थी, बिलकुल अनभिज्ञ था। उसका सम्बन्ध इंजील की मूल भाषा से वैसा ही था जैसा कि एक अनपढ़ गैर-अरब का कुरआन की भाषा से हो सकता है। जिस प्रकार इस्लाम के इतिहास में हम देखते हैं कि इस्लाम धर्म में बिदअत (अधार्मिक बातों) के फ़ितने अधिकतर उन गैर-अरबों के कारण फैले जो कुरआन और हदीस की मूल भाषा से आमतौर पर अनभिज्ञ थे और साथ ही उनके मस्तिष्क गैर-अरब दर्शन व योग से विषाक्त थे। इसी प्रकार पॉल ने, जो इंजील की मूल भाषा से अपरिचित और यूनानी दर्शन और योग का माहिर था, इंजील और ईसाइयत का बिलकुल ढाँचा ही बदल डाला। उसपर रहस्यज्ञान (Gnosticism) का रंग छाया हुआ था और उसकी समस्त गतिविधियों में जो चीज़ मूल प्रेरक के रूप में नज़र आती है वह यह है कि जिस तरह संभव हो रूमियों के लिए ईसाइयत को ग्राह्य (मक्रबूल) बनाए। इस रुचि और इस प्रेरणा के साथ स्वभावतः उसको हज़रत ईसा (अलै०) के वास्तविक जीवन और वास्तविक शिक्षाओं से कोई लगाव नहीं हो सकता था। उसकी पसन्द की चीज़ें वही हो सकती थीं जो उसके रहस्यवादी दर्शन के साथ मेल रखती हों और जिनको सरलतापूर्वक रूमी मिथकशास्त्र (Mythology) से समायोजित किया जा सके, अतएव उसकी समस्त अधार्मिक बातों में उसकी यह रुचि उभरी हुई नज़र आती है, लेकिन हम यहाँ केवल मसीह को ईश्वरत्व का स्थान दिए जाने के उसके अधार्मिक कृत के सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार में जाना चाहते हैं।

इंजील में मसीह (अलैहिस्सलाम) के लिए बेटे (इब्न) और 'ईश्वर का अनेकेश्वरवाद की वास्तविकता

बोल' (कलिमतुल्लाह) तथा ईश्वर के लिए बाप (अबु) के शब्द प्रयुक्त हुए हैं और साथ ही जगह-जगह उनको आदम का पुत्र (इब्ने आदम) भी कहा गया है और तौहीद (एकेश्वरवाद) की भी बहुत स्पष्ट शब्दों में शिक्षा दी गई है। मसीह के सच्चे शिष्यों को इन बातों के समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई। इब्रानी भाषा में 'इब्न' शब्द, अब्द (दास) और बेटा, दोनों के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'अबु' शब्द बाप और रब दोनों के अर्थ में बोला जाता है। उनको न 'इब्न' शब्द से कोई धोखा हो सकता था न 'अबु' शब्द से। वे बिना संकोच इब्नुल्लाह का भाव अब्दुल्लाह (ईश्वर का दास) और 'अबी' का भाव 'रब्बी' (मेरा रब) समझते थे और मान भी लें कि इन शब्दों के दो अर्थ होने के कारण यदि कोई संदेह उत्पन्न हो भी सकता था तो तौहीद की स्पष्ट शिक्षाएँ उसको दूर करने के लिए पर्याप्त थीं। सत्यवादियों का तरीका सदा से यह रहा है कि वे संदिग्ध चीजों पर धारणा की बुनियाद नहीं रखते, बल्कि उनका स्पष्ट शिक्षाओं और निश्चित सिद्धान्तों के प्रकाश में निर्धारण करते हैं। लेकिन पॉल के लिए इंजील के इन्हीं कुछ शब्दों ने मिथ्या अर्थ निर्धारण और बिगाड़ का द्वार खोल दिया। पॉल के समस्त स्रोत इब्रानी से अनभिज्ञता के कारण, यूनानी इंजीलें थीं। यूनानी में आकर 'अबु' और 'इब्न' के शब्द अपने उस भावार्थ से सर्वथा अलग हो गए थे जिन भावार्थ में वे इब्रानी भाषा में प्रयोग किए जाते थे। यूनानी में स्पष्ट रूप से वे बाप और बेटे के अर्थ में बदल गए। यहीं से पॉल की रहस्यवादी रुचि को आहार (बल) मिला। मसीह को 'कलिमतुल्लाह' (ईश्वर का बोल) भी कहा गया था और इसी को आधार बनाकर उसने यह सिद्धान्त गढ़ा कि 'कलिमा' (Logos) एक उच्चतम सृजनात्मक विश्वात्मा (World Power) है और मसीह उस उच्चतम सृजनात्मक विश्वात्मा के प्रतीक (Incarnation) हैं। बस यहीं से मसीह के 'इब्नुल्लाह' (ईश्वर-पुत्र) बल्कि ईश्वर होने की गलत और नई प्रथा चल पड़ी।

पॉल की मृत्यु सन् 64 ई० में हुई। उस समय से चौथी शताब्दी के आरंभिक वर्षों तक इस विषय पर ईसाइयों के बीच जो झगड़े उठते रहे और इस आधार पर जो सम्प्रदाय बने उनका विवरण बहुत विस्तृत है, लेकिन इस

युग के इतिहास के पाठकों को तीन सम्प्रदाय उभरे हुए नज़र आएँगे —

(i) आर्यूसी (Arians) — ये आर्यूस (Arius) के अनुयायी थे और मसीह (अलै०) को मनुष्य मानते थे।

(ii) साबेली (Sabellians) — ये अवतार को मानते थे और मसीह को ईश्वर का प्रतीक या उसका एक रूप (Aspect) कहते थे। उनके अनुसार ईश्वर ही स्रष्टा, मुक्तिदाता और प्रतिष्ठादाता सब कुछ था, जिस प्रकार एक ही व्यक्ति बाप, पालनकर्ता और अतिथि सब कुछ हो सकता है।

(iii) तसलीसी' — इनका लीडर एथेनेसियन (Athanasian) था। ये लोग त्रियेक परमेश्वरवाद के आवाहक थे।

इन संप्रदायों में से आर्यूसी सम्प्रदाय सही ईसाइयत के स्वस्थ अवशेषों में से था। यद्यपि दूसरे संप्रदायों के दबाव और सामान्य रुचि के प्रभाव से ये लोग भी बाद में हज़रत ईसा (अलै०) को मानवीय स्तर से कुछ उच्चतर मानने लगे थे, लेकिन त्रियेक परमेश्वरवाद या अवतारवाद के खण्डन में इस सम्प्रदाय के प्रयास अद्वितीय हैं।

तीसरी शताब्दी के अन्त और चौथी शताब्दी के आरंभ में एक विशेष घटना के कारण ईसा (अलै०) के ईश्वरत्व और दासत्व (दास होने) के सम्बन्ध में ईसाइयों के सभी समुदाय परस्पर झगड़ते रहे। उस समय तक रूमी साम्राज्य के अन्दर ईसाइयत काफ़ी फैल चुकी थी और ये मतभेद साम्राज्य के शत्रुओं के लिए अनुकूल हो सकते थे, इस कारण कुस्तनतीन ने ईसाइयत का सफ़ाया करने की वह नीति, जो उसके अग्रगामियों ने अपना रखी थी, त्यागकर ईसाइयत की हिमायत करने की नीति अपनाई। उसका सर्वप्रथम प्रयत्न यह हुआ कि किसी प्रकार इन परस्पर झगड़ने और टकरानेवाले सम्प्रदायों में समझौता और एकता कराए ताकि इन झगड़ों के कारण साम्राज्य को कोई हानि न पहुँचे। इसके लिए सबसे पहले सन् 314 ई० में उसने अर्लीस में चर्च की एक सभा बुलाई, लेकिन वांछित उद्देश्य में कोई विशेष सफलता न

1. ईसाई मतानुसार बाप, बेटा और पवित्रात्मा।

मिली। अन्ततः सन् 325 ई० में उसके संकेत पर चर्च की एक आम सभा नीसिया में हुई, और यद्यपि वह उस समय तक विधिवत ईसाई नहीं हुआ था, किन्तु उसने सभा की अध्यक्षता की। यह सभा बहुत महत्वपूर्ण थी। इसमें ईसाइयत के सभी सम्प्रदायों और सभी कलीसों के जिम्मेदार प्रतिनिधि उपस्थित थे। मूल संघर्ष आरयूसी सम्प्रदाय और ईसा (अलै०) के ईश्वरत्व को माननेवालों के बीच था। इस सभा का वृतांत अत्यन्त रोचक है। जिस समय वृद्ध आरयूस, ईसा (अलै०) के मनुष्यत्व पर भाषण देने खड़ा हुआ, एक व्यक्ति ने उसके मुँह पर थप्पड़ मारा और बहुत-से बिशप और पादरी कानों में उंगलियाँ ठूँसे हुए यह कहते हुए भागे कि हम इस बूढ़े खूसट की धर्म-विरुद्ध बातें सुनना सहन नहीं कर सकते। सभा की बहुसंख्या आरयूस के विरुद्ध थी, इस कारण उसके दल और उसके अन्य पक्षधरों की पराजय हुई। सभा ने कई दिन के वाद-विवाद और शास्त्रार्थ के बाद बहुमत से मसीही आस्था निम्नलिखित शब्दों में संकलित की जिसे नाइसिन क्रीड (Nicene Creed) के नाम से जाना जाता है और मसीही धारणाओं के सम्बन्ध में चौथी शताब्दी से आज तक सर्वमान्य और सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रमाणिक प्रलेख है —

“हम एक खुदा पर ईमान लाते हैं जो बाप है और सर्वशक्तिमान, समस्त उपस्थित और अनुपस्थित वस्तुओं का स्रष्टा, और वे एक खुदावन्द यीशु मसीह पर ईमान रखते हैं, इब्नुल्लाह (परमेश्वर का इकलौता पुत्र), ईश्वर का जना हुआ इकलौता पुत्र, बाप के जौहर से, खुदावन्द खुदा, प्रकाश ही प्रकाश, वास्तविक ईश्वर से वास्तविक ईश्वर, जना हुआ, बनाया हुआ नहीं, बाप ही के जौहर से, जिसने समस्त चीजें बनाई आकाश और धरती में, जो हम मनुष्यों के लिए और हमारे मौक्ष के लिए उतरा, साकार मानव-रूप, उसने कष्ट झेला, फिर तीसरे दिन जीवित हो उठा, और आकाश पर चढ़ गया, मृत और जीवित के न्यायार्थ फिर आएगा और हम ‘पवित्र आत्मा’ (Holy Ghost) पर विश्वास रखते हैं।”

“पर वे, जो कहते हैं कि पहले वह न था और जिए जाने से पहले वह अस्तित्वहीन था और वह अस्तित्वहीन अवस्था से अस्तित्व में आया। या जो कहते हैं कि खुदा का बेटा दूसरी चीज़ या दूसरे जौहर से है या सृजित या

मनुष्य है वह कैथॉलिक और रसौली चर्च के समान त्यक्त (मरदूद) हैं।”

नीसिया की सभा के बाद से यही धारणा मसीही जगत् की वास्तविक धारणा है। इसमें आरयूस और उसके साथियों को स्पष्टतः अधर्मी घोषित किया गया है। इस कौंसिल के बाद से यह केवल चर्च ही का नहीं बल्कि स्टेट का भी धर्म बन गया और इसके समर्थन में शासन की तलवार भी नंगी हो गई, इसी कारण आरयूस के बहुत-से साथियों ने भी इसका अनुमोदन करने ही में अपनी सुरक्षा समझी।

कितनी आश्चर्यजनक और शिक्षाप्रद घटना है कि जिन ईसाइयों ने पूरी तीन शताब्दियाँ इनसानों की खुदाई के इनकार के अपराध में रूमी सम्राटों के हृदयविदारक अत्याचारों व शिकंजों में व्यतीत कीं, तलवारों से बोटी-बोटी किए गए, आग में भूने गए, हिंसक पशुओं से नुचवाए गए, लेकिन इनसानों की खुदाई से बराबर इनकार करते रहे, वही ईसाई नीसिया में एकत्र होकर, एक नास्तिक सम्राट के मार्गदर्शन में, मसीह की खुदाई के घोषणा-पत्र पर इस संकल्प और दृढ़ता के साथ अपनी स्वीकृति की मुहर लगा देते हैं।

इस सभा के पश्चात् लगातार कई सभाएँ आयोजित हुईं और बाद की सदियों में भी बराबर आयोजित होती रहीं, बहुत-से आंशिक मतभेद भी सामने आए, कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि आरयूस के पक्षधरों ने जोर भी पकड़ लिया, यहाँ तक कि कुस्तनतीन के उत्तराधिकारियों में भी कुछ ने आरयूसी धारणा को अपना लिया। लेकिन ये सब अस्थाई और सामयिक ज्वार-भाटा थे। केन्द्रीय महत्व उसी धारणा को प्राप्त होकर रहा जो ऊपर वर्णित हुई और प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन (Gibbon) के शब्दों में अब इसी धारणा के रहस्यों और संकेतों को सुलझाने का नाम ईसाइयत रह गया है।

ईसाइयों की यही वे बहुदेववादी धारणाएँ हैं जिनका कुरआन ने बहुत विस्तार से खण्डन किया है। हम यहाँ कुरआन की कुछ आयतें उद्धृत करते हैं —

“यहूदी कहते हैं कि उज़ैर अल्लाह के बेटे हैं और ईसाई कहते हैं कि मसीह

(ईसा) अल्लाह के बेटे हैं। ये उनकी अपने मुँह की बातें हैं, उन लोगों की-सी बातें कर रहे हैं जिन्होंने इससे पहले कुफ़्र किया। अल्लाह की मार इनपर! ये कहाँ भटक गए हैं!”
—कुरआन, 9:30

“ये उनकी मनगढ़ंत बातें हैं” अर्थात् ये बातें परमेश्वर ने नहीं कही हैं। ये उनकी अपने मुँह की बातें हैं, परमेश्वर की किताब में इसका कोई प्रमाण नहीं है। “उन लोगों की-सी बातें कर रहे हैं जिन्होंने इससे पहले कुफ़्र किया” अर्थात् बिना सोचे-समझे अपने से पहलेवालों की बात दोहराते हैं और कुरआन के स्पष्टीकरण और व्याख्या के बाद विचार नहीं करते कि वास्तविकता क्या है।

इन्हीं लोगों को सम्बोधित करते हुए कुरआन में एक दूसरी जगह फ़रमाया गया है —

“ऐ अहले किताब (ईसाइयो)! अपने धर्म में नाहक हद से आगे न बढ़ो और उन लोगों की इच्छाओं का पालन न करो जो तुमसे पहले पथभ्रष्ट हुए और जिन्होंने बहुतों को पथभ्रष्ट किया और जो सीधे मार्ग से भटक गए।”

—कुरआन, 5:77

अर्थात् इस सम्पूर्ण बिगाड़ की जड़ पूर्वज-पूजा है। जो पथभ्रष्टता पूर्ववर्ती लोगों से चली आ रही है, बिना सोचे-समझे उसी का अनुकरण कर रहे हैं और अंधे अनुकरण ने उनको सही शिक्षा की ओर ध्यान देने से वंचित कर दिया है।

कुरआन की कुछ आयतों में उनके शिर्क को कुफ़्र (इनकार) कहा गया है। इसका कारण यह है कि शिर्क यथार्थ में ‘कुफ़्र’ ही है। धर्म में ईश्वर को केवल मानना विश्वसनीय नहीं है, बल्कि उसको समस्त गुणों के साथ मानना इसके लिए आवश्यक है। इसलिए, ऐस मानना जो उसके समस्त गुणों के साथ न हो, जैसाकि बहुदेववादी मानते हैं, वास्तव में न मानने का ही पर्याय है —

“उन लोगों ने कुफ़्र किया जो कहते हैं परमेश्वर तो वही मरयम का पुत्र मसीह (ईसा) है। कह दो, कौन परमेश्वर के सामने किसी चीज़ पर अधिकार

रखता है, यदि वह विनष्ट करने का इरादा कर डाले मरयम के पुत्र मसीह को और उसकी माँ को, और उन सबको जो धरती में बसते हैं। और परमेश्वर ही के लिए आधिपत्य है आकाशों और धरती और उन चीजों का जो उनके बीच हैं। पैदा करता है जो कुछ चाहता है और परमेश्वर को हर चीज की सामर्थ्य प्राप्त है।”

— कुरआन, 5:17

इस आयत में सम्बोधन उन लोगों से है जो हज़रत ईसा (अलै०) को ईश्वर का अवतार मानते थे। चूँकि मसीह के ईश्वरत्व का एक बहुत बड़ा प्रमाण उनका असामान्य रीति से जन्म लेना भी था, इसी कारण आयत के अन्तिम भाग में इसका खण्डन किया गया है।

इस विचार का खण्डन कुरआन ने विभिन्न स्थानों पर विभिन्न ढंग से किया है। कुछ स्थानों पर उनको हज़रत आदम (अलै०) से उपमा दी गई है कि बिना बाप के जन्म लेना अगर ईश्वर होने का प्रमाण है तो आदम (अलै०) को भी ईश्वर होना चाहिए। कुछ सूक्तों में हज़रत यह्या (अलै०) के जन्म को हज़रत ईसा (अलै०) के वृत्तान्त की भूमिका ठहराया गया है कि यदि सामान्य रीति के विरुद्ध पैदा हो जाना ही ईश्वर बन जाने का प्रमाण है तो पुरुष की वृद्धावस्था और स्त्री के बाँझपन के बावजूद भी किसी लड़के का जन्म सामान्य नियम के विरुद्ध है। फिर हज़रत यह्या को ईश्वर क्यों नहीं मानते?

कुरआन की सूरा-5, माइदा में है —

“निस्संदेह उन लोगों ने कुफ़्र (सत्य का इनकार) किया जिन्होंने कहा कि ईश्वर तो वही मरयम का बेटा मसीह (ईसा) है, जबकि मसीह ने शिक्षा दी है कि ऐ बनी इसराईल! ईश्वर की बन्दगी करो जो मेरा भी रब है और तुम्हारा भी रब है, निस्संदेह जो ईश्वर का साड़ी ठहराएगा, ईश्वर ने उसपर जन्नत हाराम कर दी है और उसका ठिकाना आग होगा, और अत्याचारियों (मुशरिकों) के लिए कोई सहायक नहीं होगा। निस्संदेह उन लोगों ने कुफ़्र किया जिन्होंने कहा कि ईश्वर तीन में का तीसरा है। नहीं है कोई पूज्य मगर एक ही, जो कुछ वे कहते हैं यदि उससे बाज़ न आए तो उनमें से जिन्होंने इनकार किया है उन्हें दुखद यातना पहुँचकर रहेगी। फिर क्या वे लोग ईश्वर की ओर नहीं पलटेंगे और उससे क्षमा-याचना नहीं करेंगे। जबकि ईश्वर

बड़ा क्षमाशील और दयावान है। मरयम का बेटा मसीह तो बस एक रसूल (पैगम्बर) है, उससे पहले बहुत-से रसूल गुजर चुके हैं, उसकी माता एक सत्यवती स्त्री थी और वे दोनों भोजन करते थे।”

— कुरआन, 5:72-75

इस आयत में अवतारवाद और त्रियक परमेश्वरवाद दोनों के माननेवालों का खण्डन है और इन दोनों संप्रदायों के दावे के विरुद्ध खुद मसीह (अलै०) की शिक्षा यह बताई गई है —

“ईश्वर ही की बन्दगी करो जो मेरा भी रब है और तुम्हारा भी रब है।”

— कुरआन, 5:72

इंजील में हज़रत ईसा (अलै०) का यह कथन जो बार-बार आता है कि ‘मेरा बाप, और तुम्हारा बाप’, कुरआन ने इसका ठीक-ठीक अर्थ बताया है कि यथार्थ में वे ‘मेरा रब और तुम्हारा रब’ कहते थे। ऊपर मालूम हो चुका है कि इब्रानी में ‘अबु’-शब्द बाप और रब दोनों अर्थों के लिए प्रयोग होता है।

आयत के अन्त में माँ और बेटे दोनों के भोजन करने को भी उनके मनुष्य होने के प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। भोजन करना मनुष्य होने का एक ऐसा प्रमाण है जो बनी इसराईल में सर्वमान्य था। हज़रत इबराहीम (अलै०) के पास जब फ़रिश्ते आदमियों की शकल में आए थे तो उन्होंने उनके सामने भोजन परोसा, लेकिन जब उन्होंने भोजन की ओर ध्यान नहीं दिया तो हज़रत इबराहीम (अलै०) को तत्काल शंका हुई कि ये लोग मानव नहीं हैं बल्कि फ़रिश्ते हैं।

लूका की इंजील में है कि एक बार खुद ईसा (अलै०) ने भी खाना खाकर अपने शिष्यों को अपने मानव होने का विश्वास दिलाया था। उठा लिए जाने के बाद जब वे दोबारा अपने शिष्यों के पास आए तो शिष्य उनको देखकर बहुत घबराए और उनकी बातें सुनकर यह संदेह हुआ कि कोई आत्मा उनसे बातें कर रही है। हज़रत ईसा (अलै०) ने उनके इस भ्रम को जिस तरह दूर किया, उसका वर्णन इंजील में इस प्रकार हुआ है—

“उसने उनसे कहा तुम घबराते क्यों हो और क्यों तुम्हारे मन में शंकाएँ पैदा होती हैं। मेरे हाथ, मेरे पाँव देखो, मैं वही हूँ। मुझे छूकर देखो क्योंकि आत्मा के मांस और हड्डी नहीं होती, जैसा कि मुझमें देखते हो, और यह कहकर उसने अपने हाथ एवं पाँव दिखाए। जब मारे प्रसन्नता के उनको विश्वास न हुआ और आश्चर्य करते थे तो उसने उनसे कहा: यहाँ तुम्हारे पास कुछ खाने को है? उन्होंने उसे भुनी हुई मछली का टुकड़ा दिया। उसने लेकर उनके सामने खाया।”

—लूका, 24-29-43

इसी सिलसिले में कुरआन की वह महान सूरा (सूरा-112 इखलास) भी पढ़ लेनी चाहिए जो ईसाइयों की बहुईश्वरवादी पथभ्रष्टताओं का सबसे अधिक सर्वांगीण खण्डन करती है—

“कहो, वह अल्लाह यकता (एक ही) है, अल्लाह निरपेक्ष और सर्वाधार है (और सब उसके मोहताज हैं)। न वह जनता है, न जनित है, न कोई उसका समकक्ष है।”

—कुरआन, 112:1-4

इस सूरा का एक-एक शब्द महत्वपूर्ण है जिसे समझने के लिए उचित होगा कि नीसिया की कौंसिल (सभा) द्वारा संकलित मसीही धारणा, जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, उसके शब्दों पर विचार करते हुए एक बार फिर पढ़ लें। इस तुलनात्मक अध्ययन से अनुमान लगाया जा सकेगा कि यह सूरा उस पथभ्रष्टता की धारणा के एक-एक स्तंभ को किस प्रकार ढा रही है। अतएव यही कारण है कि एक समय में ईसाइयों को इस सूरा से इतनी चिढ़ रही है कि यदि वे किसी को अपने धर्म में दीक्षित करते थे तो उससे (अल्लाह की पनाह) उस खुदा पर लालन करवाते थे जिसके गुण इस सूरा में वर्णित हैं।

यहाँ तक विद्वानों और सन्तों, सन्यासियों और हज़रत ईसा (अलै०) को रब बनाने का वर्णन हुआ है। लेकिन कुरआन ने अहले-किताब को कुछ दूसरे प्रकार के शिर्क का भी अपराधी ठहराया है। जैसे कहा गया —

“ऐ वे लोगो जिनको किताब दी गई है! उस चीज़ पर ईमान लाओ जो हमने उतारी है पुष्टि और समर्थन में उन भविष्यवाणियों के जो खुद तुम्हारे पास मौजूद है। इससे पहले कि हम चेहरों की रूप-रेखा को मिटाकर रख दें, और

उन्हें पीछे की ओर फेर दें, या उनपर भी उसी तरह लानत कर दें, जिस तरह हमने सब्त¹ वालों पर लानत की थी और खुदा का आदेश तो लागू होकर ही रहता है। निस्संदेह ईश्वर इस बात को क्षमा नहीं करेगा कि उसका साझी ठहराया जाए और इसके सिवा जो कुछ है उसको क्षमा कर देगा जिसके लिए चाहेगा, और जो कोई ईश्वर का साझी ठहराता है वह बहुत बड़ा पाप करता है। क्या तुमने उन लोगों को नहीं देखा जो अपनी पवित्रता का दावा करते हैं? जबकि पवित्रता तो परमेश्वर ही जिसे चाहता है उसे प्रदान करता है और उनपर तनिक भी अत्याचार नहीं किया जाएगा। देखो तो सही, ये किस प्रकार परमेश्वर पर मिथ्यारोपण करते हैं और खुले गुनाह के लिए यही (एक अपराध) काफ़ी है। क्या तुमने उन लोगों को नहीं देखा जिनको ईश्वरीय किताब का एक भाग मिला? वे अवास्तविक चीज़ों और तागूत (बड़े हुए सरकश) को मानते हैं और विधर्मियों के बारे में कहते हैं कि ये ईमानवालों से अधिक संमार्ग पर हैं।”

—कुरआन, 4:47-51

इन आयतों में अहले-किताब को कुरआन पर ईमान लाने के अहवान के साथ-साथ यह धमकी भी दी गई है कि यदि वे ईमान न लाए तो इसके भागी होंगे कि अल्लाह उनके चेहरे बिगाड़ दे और जिस प्रकार सब्त की मर्यादा नष्ट करनेवालों पर लानत की गई उसी प्रकार इनपर भी लानत कर दी जाए। आँख, कान, मस्तिष्क— ये सभी चीज़ें अल्लाह ने लाभ उठाने के लिए प्रदान की हैं। यदि कोई क्रौम ये चीज़ें रखते हुए भी इनसे लाभ नहीं उठाती और खुदा की निशानियाँ न उसको दिखाई देती हैं, न सुनाई देती हैं तो वह इसी योग्य है कि इन नेमतों से उसे वंचित कर दिया जाए। इसके बाद कहा गया कि ईश्वर शिर्क को कदापि क्षमा नहीं करेगा, किन्तु इसके अतिरिक्त जो गुनाह हैं उनको जिसके लिए चाहेगा क्षमा कर देगा। फिर अहले-किताब के तीन प्रकार के शिर्क गिनाए हैं— (क) अपनी पवित्रता और श्रेष्ठता का दावा, (ख) जिव्त और तागूत पर ईमान, (ग) शिर्क का समर्थन। यहाँ हम संक्षेप में इन तीनों की व्याख्या करेंगे।

1. अल्लाह ने बनी-इसराईल के लिए एक दिन केवल इबादत करने के लिए नियत किया था और किसी भी प्रकार का सांसारिक कार्य करने की मनाही की थी। इसी दिन को 'सब्त' कहा जाता है।

—अनुवादक

(क) पवित्रता व श्रेष्ठता का दावा

“क्या तुमने उन लोगों को नहीं देखा जो अपनी पवित्रता का दावा करते हैं?”

—कुरआन, 4:49

ये यहूदी और ईसाइयों के उस विचार की ओर संकेत है जिसका वर्णन कुरआन में जगह-जगह हुआ है। सूरा माइदा में है —

“.... यहूदी व ईसाई कहते हैं कि हम परमेश्वर के बेटे हैं और उसके प्रिय हैं, पूछो फिर परमेश्वर तुम्हें पापों के बदले में दण्ड क्यों देता है? बल्कि तुम भी परमेश्वर की सृष्टि में आम आदमियों के समान हो, वह क्षमा करेगा जिसको चाहेगा और दण्ड देगा जिसको चाहेगा।”

—कुरआन, 5:18

कुरआन में एक दूसरी जगह सूरा जुमआ में है —

“कह दो, ऐ लोगो, जो यहूदी बन गए हो! यदि तुम्हारा विचार है कि सारे लोगों को छोड़कर केवल तुम ही परमेश्वर के प्रेमपात्र हो तो मृत्यु की कामना करो यदि तुम सच्चे हो।”

—कुरआन, 62:6

ऊपर बहुदेववादियों के वर्णन में आत्म-पूजा के शीर्षक से जो कुछ लिखा जा चुका है, इस विवरण को समझने के लिए उसपर एक दृष्टि डाल लेना लाभदायक होगा। बहुदेववादियों और अहले-किताब के दिलों की एकरूपता का वर्णन कुरआन ने कई जगह किया है। यह भी उसी एकरूपता का एक प्रकार है। जिस प्रकार बहुदेववादी, पवित्र घर काबा की वजह से, लम्बे समय तक लोगों के ध्यानाकर्षण के केन्द्र बने रहने और शांति व सम्पन्नता का जीवन व्यतीत करते रहने के कारण इस उन्माद में ग्रस्त हो गए थे कि जो कुछ उन्हें प्राप्त है उनके व्यक्तिगत पात्रता का फल है, उनके कुल, गोत्र का अनिवार्य परिणाम और उनके ज्ञान और विचारशीलता का करिश्मा है। वे इसी स्थिति में रहे हैं और इसी स्थिति में रहेंगे। यह मान-सम्मान, यह सरदारी उनके लिए बाप-दादा की छोड़ी हुई धरोहर है जो उनसे छिन नहीं सकती। उनके पूर्वज इबराहीम (अलै०) और इसमाईल (अलै०) अपनी नेकियों से सदा-सर्वदा लिए उनका मूल्य चुका चुके हैं और अब उनको कुछ करने की आवश्यकता शेष नहीं रही। ठीक इसी प्रकार अहले-किताब भी

एक लम्बे समय से पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त धार्मिक एवं सांसारिक श्रेष्ठता के सिंहासन पर विराजमान रहने के कारण इसी उन्माद में ग्रस्त हो गए थे कि क़ौमों की सरदारी और नायकता उनका स्वाभाविक और नैसर्गिक पद है, जिसपर वे इसलिए आसीन किए गए हैं कि वे ईश्वर के चुने हुए सृष्टजन हैं, उसके प्रिय और चहेते हैं और उसके चहेतों और चुने हुए लोगों की सन्तान हैं।

तौरात आदि में जो मान-सम्मान और श्रेष्ठताएँ सदगुणों के साथ संलग्न की गई थीं वे पूरी की पूरी उन्होंने अपनी क़ौम और अपने वंश के लिए खास कर दीं। इस उन्माद में पड़ जाने के बाद उनका सारा भरोसा इस बात पर रह गया कि वे इबराहीम, इसहाक़ और याक़ूब (अलै०) की संतान हैं और उन महान पुरुषों की संतति में होना ही ईश्वर के निकटवर्ती होने और उसकी पकड़ से बचने के लिए काफ़ी है। कर्म और आज्ञापालन की कुछ अधिक आवश्यकता नहीं है। यहीं से उनको यह भ्रम भी हो गया कि नरक की आग हमें कुछ थोड़े दिनों से अधिक नहीं छुएगी। शाश्वत नरक हमारे लिए नहीं है। यहीं से वे इस भ्रम में भी पड़ गए कि दुनिया को धर्म और ईमान का प्रकाश अब केवल हमारे द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, कोई दूसरी क़ौम इसका माध्यम नहीं बन सकती। क़ौम है तो मात्र हमारी क़ौम है, नबी है तो मात्र हमारा नबी है और मार्गदर्शन है तो केवल हमारा मार्गदर्शन है। जो हमारे अन्दर है वह संमार्ग पर है, जो हमसे बाहर है वह पथभ्रष्ट है।

यहूदियों के इस घमण्ड के कारण हज़रत ईसा (अलै०) ने उनसे कहा कि तुम इबराहीम की संतान में से होने के कारण घमण्ड न करो, खुदा इबराहीम के लिए धरती के कर्णों से संतान पैदा कर सकता है। क़ुरआन ने उनके ये सब विचार सूरा बक्ररा आदि में उद्धृत किए हैं और उनको 'झूठी कामनाएँ', 'निराधार विचार', 'चिकनी-चुपड़ी बातें' आदि शब्दों से व्यक्त किया है। और इनमें से एक-एक भ्रम का खण्डन किया है और इन विचारों ही के आधार पर उनको ईश्वरीय मार्गदर्शन के अनुसरण से वंचित ठहराया है। उनको रसूलों के बीच भेदभाव करने का अपराधी ठहराया, यहाँ तक कि उनको इस्लाम, खुदा की बन्दगी और इखलास (अर्थात् तौहीद व एकेश्वरवाद)

से भी वंचित ठहरा दिया और उनके आह्वान — ‘यहूदी या ईसाई हो जाओ संमार्ग पा जाओगे।’ — की जगह उत्तम समुदाय अर्थात् मुसलमानों का कलिमा (मूलमंत्र) यह बताया —

“कहो हम ईमान लाए परमेश्वर पर और उस चीज़ पर जो हमारी ओर उतारी गई और जो उतारी गई इबराहीम, इसमाईल, इसहाक, याकूब और उनकी संतान पर और जो दी गई मूसा और ईसा को और जो मिली नबियों को उनके रब की ओर से। हम उनमें से किसी के बीच कोई भेदभाव नहीं करते और हम उसी के आज्ञाकारी हैं। अतः यदि वे ईमान लाएँ जिस प्रकार तुम ईमान लाए तो वे संमार्ग पर हैं, और यदि वे आपत्ति करें तो वे झगड़े में पड़े हुए हैं और तुम्हारी ओर से परमेश्वर उनके लिए काफ़ी है, और वह सुननेवाला, जाननेवाला है। यह परमेश्वर का रंग है। और परमेश्वर से रंग में कौन अच्छा है, और हम उसी की बन्दगी करनेवाले हैं। कहो, क्या तुम हमसे परमेश्वर के बारे में झगड़ते हो, जबकि वही हमारा रब है और वही तुम्हारा रब भी है, और हमारे लिए हमारे कर्म हैं और तुम्हारे लिए तुम्हारे कर्म। हम उसी के लिए एकनिष्ठ हैं।” — कुरआन, 2:136-139

इन आयतों में — ‘हम उसी के आज्ञाकारी हैं’, ‘हम उसी की बन्दगी करनेवाले हैं’, ‘हम उसी के एकनिष्ठ हैं’ के शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। इन तीनों में अहले-किताब पर आक्षेप है कि न तो तुम मुस्लिम (आज्ञाकारी) हो, न खुदा की बन्दगी करनेवाले हो, न एकनिष्ठ हो। जो खुदा का आज्ञाकारी, उसका बन्दा एवं दास और केवल एक अकेले खुदा ही का माननेवाला होगा वह स्वयं को खुदा के रंग में रंगेगा, यहूदियत या ईसाइयत के रंग में स्वयं को क्यों लिप्त करेगा? वह खुदा के मार्गदर्शन का अनुसरण करेगा, चाहे वह जिस रूप और जिस भाषा में भी आए। सब नबियों पर ईमान लाएगा, चाहे वे किसी क़ौम में आए हों। वह यह नहीं करेगा कि किसी को माने और किसी का इनकार कर दे। ये सभी बातें एकनिष्ठता और एकेश्वरवादी गुण के विरुद्ध हैं, यह तुम खुदा की बन्दगी नहीं कर रहे हो, बल्कि अपनी-अपनी क़ौम और अपने-अपने नबी की पूजा कर रहे हो।

(ख) जिब्त और तागूत पर ईमान

‘जिब्त’ का तात्पर्य जादू, नज़रबन्दी, गण्डे-तावीज़, टोने-टोटेके और ज्योतिष आदि हैं। बाइबल के इतिहास और यहूदियों के इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि यहूदियों ने कुलदानियों की तमाम जादू-टोना आदि विद्याएँ सीख ली थीं। ये चीज़ें इतिहास के प्रत्येक युग में धर्मपरायण लोगों के लिए बिगाड़ का कारण बनी हैं। धर्म की सीधी-सादी और कड़वी-कसैली शिक्षाएँ नीरस लगने लगती हैं और मन चटखारों की तलाश में होता है तो ये चीज़ें प्रचलित हो जाती हैं। ये चीज़ें धर्म की मूल आत्मा के मृतप्राय होने की प्रतीक हैं। जिस दिन यह बिगाड़ किसी क्रौम में प्रकट होना आरंभ हुआ, वही दिन धर्म की पवित्र शिक्षा के पतन का प्रथम दिन होता है। जो लोग इन चीज़ों में लिप्त हो जाते हैं, अल्लाह की किताब से उनका सम्बन्ध टूट जाना अनिवार्य है। सम्बन्ध के उद्गम-स्रोत दो हैं। एक का स्रोत शैतान है और दूसरे का स्रोत रहमान है। जो लोग शैतान से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं वे अनिवार्यतः ईश्वर से कट जाते हैं और नबियों की शिक्षा और ईश्वर की किताब छोड़ बैठते हैं। अतएव यहूदियों का यही हाल हुआ। कुरआन की सूरा-2 ‘बक्रा’ में उनकी इसी ‘जिब्त-परस्ती’ का वर्णन है—

“....जब ईश्वर की ओर से उनके पास एक पैगम्बर आया उस चीज़ के अनुकूल जो उनके पास है तो उन लोगों में से एक गिरोह ने, जिसे किताब मिली थी, ईश्वर की किताब को इस प्रकार पीठ पीछे डाल दिया जैसे वे कुछ जानते ही नहीं, और उस चीज़ का अनुसरण किया जो सुलेमान के शासनकाल में शैतान पढ़ते थे। और सुलेमान ने कुफ़्र नहीं किया, बल्कि कुफ़्र तो शैतानों ने किया। वे लोगों को जादू सिखाते थे।”

— कुरआन, 2:101-102

तागूत, मलकूत और जबरूत के वज़न पर है और ‘तगा’ धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ ‘सीमा का उल्लंघन करना’ है। जो चीज़ उचित सीमा से आगे बढ़ जाए उसके लिए अरबी में कहेंगे ‘तगा’, जैसे ‘तगाल माअ’— पानी हद से आगे बढ़ गया। समूद क्रौम जिस विपदा से विनष्ट हुई

उसके लिए कुरआन में 'ताग़ूतः' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ हृद से बढ़ जानेवाली विपदा के हैं। यहीं से यह शब्द दासता और बन्दगी की सीमा से निकल जाने के लिए प्रयुक्त हुआ, और जो चीज़ बन्दगी की सीमा का उल्लंघन करे उसको ताग़ूत कहने लगे। फिर वे चीज़ें भी इसके अन्तर्गत आ गईं जो बन्दगी की सीमा से निकल जाने का कारण और साधन हों। शब्दकोशकारों ने इसी कारण इसकी व्याख्या इस प्रकार की है —

“ताग़ूत का अर्थ प्रत्येक वह चीज़ है जो हृद से निकल जाए और प्रत्येक वह चीज़ है जिसकी परमेश्वर के अतिरिक्त पूजा की जाए।”

कुरआन ने इस शब्द को विभिन्न स्थानों पर प्रयोग किया है और हर जगह इसके विपरीतार्थक शब्दों का वर्णन करके इसके विभिन्न भावार्थों पर प्रकाश डाला है। जैसे सूरा-2 बक्रा में है—

“अतः जो ताग़ूत का इनकार करे और ईश्वर पर ईमान लाए।”

—कुरआन, 2:256

यहाँ ईश्वर के मुक़ाबले में ताग़ूत शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि ताग़ूत से अभिप्रेत ईश्वर से हटकर दूसरे पूज्यों से है। सूरा नहल में है—

“ईश्वर की इबादत करो और ताग़ूत से बचो।” —कुरआन, 16:36

सूरा निसा में है—

“जो ईमान लाए वे ईश मार्ग में लड़ते हैं और जिन्होंने कुफ़्र किया वे ताग़ूत की राह में लड़ते हैं।” —कुरआन, 4:76

इसके बाद कहा गया—“शैतान के मित्रों से लड़ो।”

इससे निश्चित हो गया कि ताग़ूत का आशय शैतान है और शैतान से आशय मानव और जिन्न दोनों प्रकार के शैतानों में से है और कुरआन में ईश्वर के अतिरिक्त किसी और की ओर बुलाने और उसके आज्ञापालन के लिए यह एक संग्राहक शब्द है। इसी प्रकार एक और स्थान पर इस शब्द को ईश्वरीय किताब और रसूल के मार्ग के विरोधी के अर्थ में प्रयोग किया गया है —

“ (ऐ पैगम्बर !) क्या तुमने देखा नहीं उन लोगों को जो दावा तो करते हैं कि हमने मान लिया है उस किताब को जो तुम्हारी ओर उतारी गई है और उन किताबों को जो तुमसे पहले उतारी गई थीं, मगर चाहते यह हैं कि अपने मामलों का फ़ैसला कराने के लिए ‘तागूत’ की ओर जाएँ ? जबकि उन्हें उसके इनकार करने का आदेश दिया गया था। शैतान उनको भटकाकर बहुत दूर ले जाना चाहता है। और जब उनसे कहा जाता है कि आओ उस चीज़ की ओर जो ईश्वर ने उतारी है और आओ रसूल की ओर तो इन कपटाचारियों (मुनाफ़िकों) को तुम देखते हो कि ये तुम्हारी ओर आने से कतराते हैं।”

— कुरआन, 4:60-61

इन आयतों में फ़ैसला कराने के लिए ‘तागूत’ की ओर जाने के विपरीत ‘आओ उस चीज़ की ओर जो परमेश्वर ने उतारी है और आओ रसूल की ओर’ कहकर स्पष्ट कर दिया कि तागूत, परमेश्वर की किताब और रसूल के मार्ग (सुन्नत) के विरोध को दर्शाने के लिए एक संग्राहक शब्द है।

इस विवरण से मालूम हुआ कि जो ईश्वर की बन्दगी और आज्ञापालन से निकल जाए या निकल जाने का कारण या साधन बने, वह सब तागूत के अर्थ में सम्मिलित है। अतः शैतान, जादूगर, भविष्यवक्ता, बुत, फ़िरऔन व नमरूद, ईश्वर की हिदायत से भटकानेवाले लीडर, ऐसे शासन जिनका आधार ईश्वरीय आदेश न हो, ईश्वरीय नियमों से हटी हुई अदालतें एवं ईशमार्ग से वंचित शिक्षण-संस्थाएँ और ईशमार्ग से दूर मठ (साधुओं-सूफ़ियों के आश्रम) सब इसके अन्तर्गत आते हैं। और अहले-किताब इस प्रकार के शिर्क में भी प्रस्त थे —

“वे जिन पर ईश्वर की फिटकार पड़ी, जिनपर उसका प्रकोप हुआ, जिनमें से बन्दर और सुअर बनाए गए, जिन्होंने तागूत की दासता अपनाई, उनका दर्जा और भी ज़्यादा बुरा है और वे सरल, सहज मार्ग से बहुत अधिक भटके हुए हैं।”

— कुरआन, 5:60

(ग) शिर्क का समर्थन

अहले-किताब का तीसरा शिर्क, शिर्क का समर्थन है। शिर्क का सहयोग

चाहे जिस प्रकार का हो, शिर्क है।

अल्लाह ने अहले-किताब को अपनी किताब प्रदान की थी। उनसे अपने धर्म-विधान (शरीअत) की पाबन्दी की प्रतिज्ञा कराई थी। भविष्य में आनेवाले नबी की सहायता व समर्थन और लोगों से उसका परिचय कराने की जिम्मेदारी उनपर डाली थी। यहूदियों से कहा गया था—

“मैं उनके लिए उनके भाइयों के बीच से तेरे (अर्थात् तुम्हारे पैगम्बर) समान एक नबी को उत्पन्न करूँगा और अपना वचन उसके मुँह में डालूँगा और जिस-जिस बात की मैं उसे आज्ञा दूँगा वही वह उनको सुनाएगा।”

— अवस्था विवरण 18:18

हजरत ईसा (अलै०) अपने शिष्यों से स्पष्ट रूप में कह गए थे—

“मुझे तुमसे बहुत-सी बातें कहनी थीं, लेकिन अभी तुम उनको बर्दाश्त न कर सकोगे, लेकिन जब वह सत्यात्मा आएगा तो सम्पूर्ण सत्य की ओर तुम्हारा मार्गदर्शन करेगा।”

—यूहन्ना 16:12-13

यहूदियों को उस नबी के आने की प्रतीक्षा भी थी। वे अपने धर्म की भविष्यवाणियों के अनुसार विश्वास रखते थे कि यह नबी उनके सौभाग्य का द्वार खोलेगा और उनको विधर्मियों पर विजय दिलाएगा।

“....वे पहले से विधर्मियों के मुक्काबले में विजय की प्रार्थना कर रहे थे।”

— कुरआन, 2:89

और ईसाई तो मानो पूर्णतः प्रतीक्षा-नेत्र ही बने हुए थे। हजरत ईसा (अलै०) ने इंजील में जो उपमाएँ बयान की हैं, यदि उनकी व्याख्या कर दी जाए तो मालूम होगा कि इंजील की उपमाओं का बड़ा भाग अन्तिम नबी के वृत्तांत के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इन परिस्थितियों में स्पष्ट है कि अहले-किताब का मूल कर्तव्य यह था कि जब अन्तिम नबी प्रकट होता, अपने पूर्व ज्ञान के प्रकाश में उसको जाँचते-परखते। यदि उसको अपनी भविष्यवाणियों के अनुरूप पाते तो उसपर ईमान लाते, लोगों में उसका परिचय कराते, उसकी सहायता और समर्थन करते और फिर उसके लिए धर्म की स्थापना में अपना सब कुछ बलिदान कर देते। लेकिन उन लोगों का हाल वही हुआ

जो ईसा (अलै०) ने कुमारियोंवाली उपमा में वर्णन किया है कि रातभर तो वे अपनी मशालें जलाए हुए दूल्हा की प्रतीक्षा करती रहीं लेकिन जब दूल्हा के आने का समय हुआ तो मशालें बुझ गईं, उनकी कुप्पियों का तेल समाप्त हो गया और वे खुद सो गईं। शताब्दियों तक तो ये लोग नबी की प्रतीक्षा करते रहे, लेकिन जब वह प्रकट हुआ और उन लोगों ने उसको पहचान भी लिया तो ईमान लाने के बजाय उसके इनकार में पहल की। और इसी पर बस नहीं किया, बल्कि डाह और शत्रुता के आवेश में खुल्लम-खुल्ला उन मुशरिकों की सहायता और हिमायत में खड़े हो गए जो उस आह्वान के विरोध में एड़ी-चोटी का जोर लगा रहे थे। खुल्लम-खुल्ला उसकी शिक्षाओं का उपहास किया। उसके काम को रोकने के लिए युद्ध किए और उसकी शत्रुता के आवेश में यहाँ तक गिर गए कि मुशरिकों के धर्म को उसके आमंत्रण की अपेक्षा प्राथमिकता देने लगे और विधर्मियों को उसके अनुयायियों से अधिक सत्य और संमार्ग पर बताने लगे—

“....विधर्मियों के बारे में कहते हैं कि ईमानवालों से तो यही अधिक सत्यमार्ग पर हैं।”

— कुरआन, 4:51

इस शिर्क-प्रियता के साथ तौहीद (एकेश्वरवाद) के किसी लगाव की कहाँ संभावना रहती है?

अतः खुदा ने उनपर लानत कर दी—

“ऐसे ही लोग हैं, जिनपर खुदा ने लानत की है और जिसपर खुदा लानत कर दे, फिर तुम उसका कोई सहायक न पाओगे।” — कुरआन, 4:52

4. मुनाफ़िकों का अनेकेश्वरवाद

जहाँ तक प्रत्यक्ष विश्वास और कर्म का सम्बन्ध है मुनाफ़िक पूरे मुसलमान थे। ईमान के जितने अंग हैं उन सबको वे मानते थे। हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) और दूसरे समस्त नबियों की नुबूत भी उनको स्वीकार थी, कलिम-ए-शहादत (ला-इला-ह इल्लल्लाह मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह —अर्थात् परमेश्वर के अलावा कोई पूज्य-प्रभु नहीं, मुहम्मद (सल्ल०) परमेश्वर के पैग़म्बर हैं) भी वे पढ़ते थे, मस्जिदों में इस्लाम के बताए हुए तरीक़े पर नमाज़ें भी अदा कर लेते थे, ज़कात भी दे देते थे और काबे का हज भी कर आते थे। धर्म-युद्धों में भी सम्मिलित हो जाते थे, बल्कि कुरआन से यह भी मालूम होता है कि जहाँ तक मौखिक बयान का सम्बन्ध है जिहाद का उत्साह सच्चे मुसलमानों की अपेक्षा अधिक प्रकट करते थे और रिसालत पर ईमान को प्रकट करने का तो यह हाल था कि हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के पास आते और सौगन्ध खा-खाकर विश्वास दिलाते कि हम आपको ईश्वर का रसूल मानते हैं। लेकिन इन सारी बातों में उनकी एक बात भी कुरआन ने स्वीकार नहीं की, बल्कि उनको ईमान से वंचित, रिसालत का इनकार करनेवाले, शैतान के साथी, जहन्नम (नरक) के सबसे निचले भाग के पात्र और साफ़-साफ़ शब्दों में शिर्क का अपराधी ठहराया।

कुरआन की समस्त आयतों को पेश करना इस संक्षिप्त अध्याय में कठिन होगा, लेकिन उन कपटाचारियों के शिर्क से सम्बन्धित कुछ आयतें उद्धृत करके हम उनपर संक्षेप में बात करेंगे। कुरआन ने मुनाफ़िकों को तागूत के पास फ़ैसले के लिए जाने का अपराधी ठहराया है और इस तागूत की ओर से फ़ैसले कराने को शिर्क बताया है।

फ़ैसले के लिए तागूत के पास जाना

कुरआन की सूरा निसा में कहा गया—

“क्या तुमने उनको नहीं देखा जिनका खयाल है कि वे उस चीज़ पर ईमान लाए हैं जो तुम्हारी ओर उतारी गई है और जो तुमसे पहले उतारी गई है,

लेकिन वे चाहते यह हैं कि अपने मामलों को फ़ैसले कराने के लिए तागूत के पास ले जाएँ, जबकि उनको आदेश दिया गया है कि उसका इनकार करें, और शैतान चाहता है कि उनको पूरी तरह पथभ्रष्ट कर डाले। और जब उनसे कहा जाता है कि आओ उस चीज़ की ओर जो ईश्वर ने उतारी है और रसूल की ओर तो इन मुनाफ़िक़ों को तुम देखते हो कि तुम्हारी ओर आने से कतराते हैं।”

— कुरआन, 4:60-61

इससे ऊपरवाली आयत में मुसलमानों को आदेश दिया गया है कि ईश्वर, रसूल और अपने समुदाय के अधिकारियों का आज्ञापालन करो और यदि किसी बात में मतभेद हो जाए तो खुदा और उसके रसूल की ओर लौटो। इसके बाद मुनाफ़िक़ों का हाल बताया है कि ये लोग खुदा और उसके रसूल पर ईमान लाने के दावेदार होने के बावजूद चाहते यह हैं कि अपने मामलों का फ़ैसला तागूत से कराएँ, खुदा और उसके रसूल की अदालत में न लाएँ।

ऊपर हम तागूत शब्द के अर्थ के संबंध में वार्ता कर चुके हैं। इस आयत में तागूत के मुक़ाबले में —

“आओ उस चीज़ की ओर जो ईश्वर ने उतारी है और रसूल की ओर।”

(कुरआन, 4:61)

— के शब्द भी आए हैं जिनसे यह बात स्पष्ट होती है कि तागूत से अभिप्राय वे अधिकारी हैं जिनके फ़ैसले ईश्वरीय ग्रन्थ और रसूल के फ़ैसलों के विरुद्ध होते हैं और आयतों के संदर्भ एवं प्रसंग से स्पष्ट है कि यहाँ इससे अभिप्रेत अहले-किताब के अधिकारी और उनकी अदालतें हैं। यहाँ उस समय का हाल बयान हुआ है जब मदीना में व्यवहारतः दारुल-इस्लाम (इस्लामी क़ानूनों पर आधारित शासन) स्थापित हो चुका था और मुसलमानों के सभी मामले—दीवानी व फ़ौजदारी—खुद ईश्वर के रसूल (सल्ल०) की अदालत में पेश होकर निर्णित होने और लागू होने लगे थे। लेकिन साथ ही एक समानान्तर शासन (Parallel Government), यहूदियों का पहले से क़ायम और अब तक मौजूद था। इस व्यवस्था की मौजूदगी के कारण एक समस्या यह पैदा हो रही थी कि मुनाफ़िक़ अपने बहुत-से झगड़ों में यहूदी अदालतों में जाते थे। उनके ऐसा करने के दो बड़े कारण थे। एक यह कि

यहूदी अधिकारियों को रिश्त देकर उनसे अपने पक्ष में फैसला प्राप्त कर लेना बहुत आसान था और हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) की अदालत में इसकी कोई संभावना नहीं थी।

दूसरे यह कि मुनाफ़िक्कों को यह डर था कि अभी मदीने का इस्लामी शासन प्रारम्भिक स्थिति में है। यद्यपि कुरैश की शक्ति को उसने तोड़ दिया है, लेकिन यहूदियों के संगठित गिरोह से उसकी सीधी टक्कर अभी नहीं हुई है। संभव है कि कल यह टक्कर हो जाए और जीत यहूदियों की हो, तो थोड़ा-बहुत लगाव जो आज उनके साथ रहेगा वह कल काम आएगा, अन्यथा यहूदी मुसलमानों और इस्लाम के साथ हमें भी समाप्त कर देंगे। इस विकृत विचार के कारण ये लोग अपने झगड़े अधिकतर उन्हीं की अदालतों में ले जाते थे। किन्तु यदि कोई मामला ऐसा होता जिसमें वे समझते कि इस्लामी अदालत में फैसला कराना लाभदायक रहेगा तो अत्यन्त आज्ञाकारिता का प्रदर्शन करते हुए खुदा के रसूल (सल्ल०) की अदालत में हाज़िर होते।

दूसरी ओर यहूदी यह शरारत करते थे कि फ़ौजदारी के महत्त्वपूर्ण मामलों में, जिनमें वे किसी निजी या राजनीतिक स्वार्थ के कारण अपनी शरीअत के अनुसार फैसला न करना चाहते, दोनों पक्षों को यह सुझाव देते कि खुदा के रसूल (सल्ल०) की अदालत में ले जाएँ, और साथ ही उन्हें यह हिदायत भी कर देते कि यदि मुहम्मद (सल्ल०) यह फैसला करें तो मान लेना और यदि कुछ और फैसला करें तो हमारे पास लौट आना। इस प्रकार के मामले साधारणतया धनवान यहूदियों के होते थे, जिनसे भारी-भारी रिश्तों लेकर यहूदी आलिम ईश्वरीय शरीअत के लागू होने से बचने की यह युक्ति अपनाते थे कि यदि नबी (सल्ल०) की अदालत में फैसला इच्छा के अनुकूल हुआ तो उद्देश्य पूरा होगा और उत्तरदायित्व नबी (सल्ल०) पर होता और यदि फैसला इच्छा के विपरीत होता तो उसको छोड़कर खुद अपनी अदालत में अपनी इच्छा के अनुकूल फैसला करते।

कुरआन की उपर्युक्त आयत और उससे मिलती-जुलती आयतों को ठीक-ठीक समझने के लिए उसके अवतरण की पृष्ठ-भूमि को सामने रखना

आवश्यक है।

उन मुनाफ़िकों के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'तहाकुम इलत्तागूत' अर्थात् ग़ैर-इस्लामी अदालतों में अपना विवाद ले जाना और फिर उसी के साथ अल्लाह और कुरआन पर ईमान का दावा करना दो परस्पर विरोधी बातें हैं। अल्लाह पर ईमान से पहले तागूत का इनकार ज़रूरी है और 'एक अल्लाह' को मानने से पहले 'समस्त खुदाओं का इनकार' अनिवार्य है। कुरआन में कहा गया है—

“अतः जो कुफ़्र (इनकार) करे तागूत का और ईमान लाए ईश्वर पर।”

—कुरआन, 2:256

दूसरे स्थान पर है—

“ईश्वर की बन्दगी करो और तागूत से बचो।”

ईश्वर पर ईमान और तागूत पर ईमान दोनों एक साथ इकट्ठा नहीं हो सकते। यहूदियों की अदालतों में यदि अपने मामलों को ले जाते हो तो तुम्हारा “बिमा अंज़लल्लाह” (जो ईश्वर ने उतारा है) पर ईमान लाने का दावा झूठा है। “जो ईश्वर ने उतारा है” पर ईमान का अनिवार्य परिणाम यह है कि सभी मामलों में ईश्वर ही का आज्ञापालन किया जाए और उसका तरीका यह है कि नबियों के मार्ग का अनुसरण किया जाए। यदि ऐसा नहीं है तो न ईश्वर पर ईमान हुआ, न ईश्वर की उतारी हुई चीज़ पर ईमान हुआ और न ही रसूल पर ईमान हुआ। रसूल केवल इसलिए नहीं होता कि मात्र धारणा की हद तक यह स्वीकार कर लिया जाए कि वह रसूल है, बल्कि वह आज्ञापालन के लिए होता है और ईश्वर के आज्ञापालन का मार्ग उसके (रसूल के) आज्ञापालन के अन्दर ही से होकर निकलता है। इसी लिए बाद की आयतों में फ़रमाया—

“....क्या होगा जब उनको कोई मुसीबत पहुँचेगी उनके किए के बदले में, फिर वे तुम्हारे पास क्रसम खाते हुए आएँगे कि खुदा की क्रसम! हमने तो भलाई और अच्छाई चाही थी। उन लोगों के दिलों में जो कुछ है ईश्वर उसको खूब जानता है। अतः उनसे मुँह फेर लो, उन्हें समझाओ और उन्हें

ऐसी बात कहो जो उनके दिलों में उतर जाए। हमने जो रसूल भी भेजा है केवल इसी लिए भेजा है कि ईश्वर की अनुमति से उसकी आज्ञा का पालन किया जाए। यदि वे अपने ऊपर अत्याचार कर बैठे थे तो तुम्हारे पास आते, ईश्वर से क्षमा चाहते और रसूल उनके लिए क्षमा की प्रार्थना करता तो वे ईश्वर को क्षमा करनेवाला और दया करनेवाला पाते। अतः नहीं, तेरे रब की क्रसम, वे ईमानवाले नहीं हैं जब तक कि वे अपने आपसी झगड़ों में तुमको फ़ैसला करनेवाला न बनाएँ, फिर अपने दिलों में तुम्हारे फ़ैसले की वजह से कोई तंगी न पाएँ और पूरी तरह आज्ञापालन न करें।”

— कुरआन, 4:62-65

उपर्युक्त आयतों में—

“हमने जो रसूल भी भेजा है इसी लिए भेजा है कि खुदा की अनुमति से उसकी आज्ञा का पालन किया जाए।”

विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि यह मुनाफ़िक़ों के इस झूठे दावे का खण्डन है कि वे ताग़ूत से फ़ैसला कराने के बावजूद स्वयं को ईश्वर पर और रसूल पर ईमान लानेवाला समझते हैं। रसूल केवल इसलिए नहीं आया करता कि मात्र ज़बान से उसकी रिसालत और पैग़म्बरी को स्वीकार कर लिया जाए या दिल में यह धारणा रख ली जाए कि वह अल्लाह का रसूल है, बल्कि वह इसलिए आता है कि उसकी आज्ञा का पालन किया जाए। समस्त मामलों में उसे फ़ैसला करने का अधिकारी माना जाए, उसके आदेशों का बिना किसी आपत्ति के पालन किया जाए। पूर्ण रूप से उसके समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया जाए और जो लोग उसके बताए हुए मार्ग से अलग हैं उनका विरोध किया जाए। अतः इस आयत में क्रसम खाकर फ़रमाया कि जब तक ये लोग अपने समस्त मामलों में रसूल का आदेश न मान लें, उसके फ़ैसलों को दिल की पूरी रज़ामन्दी से स्वीकार न कर लें और अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उसके आदेश और निषेध के अधीन न हो जाएँ उस समय तक ये अल्लाह पर ईमान लानेवाले नहीं, बल्कि ताग़ूत पर ईमान लानेवाले हैं।

ऊपर जो बातें बयान की गई हैं संभव है उनके बारे में किसी को सन्देह हो कि आयतों की पृष्ठ-भूमि निश्चित करने में हमने मात्र अपनी कल्पनाशक्ति

से काम लिया है, उनकी संतुष्टि के लिए हम उनको कुरआन की सूरा माइदा की आयत 41-54 का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। जो लोग इन आयतों पर चिन्तन करेंगे वे इन समस्त बातों का स्रोत खुद कुरआन में पा जाएँगे, जो हमने बयान की हैं। उन आयतों का अर्थ संक्षेप में हम अपने शब्दों में यहाँ वर्णन भी कर देते हैं, ताकि समझने में सुविधा हो—

“पहले रसूल को तसल्ली दी है कि मुनाफ़िक्क और यहूदी आप (सल्ल०) से मामलों का फ़ैसला कराने के बाद जो उससे कतराते हैं, तो इससे दुखी नहीं होना चाहिए। ये यहूदी जो अपने मामले कभी-कभी आप (सल्ल०) के पास लाते हैं तो ये झगड़ा चुकाने और विवाद का फ़ैसला कराने के लिए नहीं लाते, बल्कि ये तो झूठ के ग्राहक और यहूदी सरदारों के एजेंट हैं। वे स्वयं सामने नहीं आते, बल्कि पीछे बैठे हुए इन कठपुतलियों को नचाते हैं और अल्लाह के दीन में काट-छाँट करते हैं और आप (सल्ल०) के पास उनको यह सिखाकर भेजते हैं कि यदि तुम्हारे मामले का यह फ़ैसला हो तो वापस चले आना। ऐसे लोगों की हालत पर दुखी होना व्यर्थ है। ईश्वर नहीं चाहता कि इनके दिलों को पाक करे अन्यथा तौरैत के मार्गदर्शन के अनुसार ये लोग आप (सल्ल०) पर ईमान लाते और कुफ़्र के बदले ईमान और अल्लाह की आज्ञा के पालन की ओर अग्रसर होते। इनके लिए दुनिया में अपमान और आखिरत में घोर यातना है। ये झूठ के माननेवाले और रिश्वत के खानेवाले हैं। यदि आप (सल्ल०) के पास ये अपना मामला पेश करें तो आपको अधिकार है कि उनके मामले में पड़ें या न पड़ें। हाँ, अगर पड़ें तो अनिवार्य है कि अल्लाह की शरीअत के अनुसार ही फ़ैसला करें।”

“इसके बाद कुछ आयतों में यहूदियों की भर्त्सना की गई है कि ये किस प्रकार के लोग हैं कि आपको न्याय करने का अधिकारी बनाते हैं, फिर आप (सल्ल०) के फ़ैसले से विमुख हो जाते हैं, जबकि उनके पास तौरैत मौजूद है जिसमें अल्लाह का क़ानून मौजूद है और उन्हें मालूम है कि आप (सल्ल०) का फ़ैसला ईश्वरीय क़ानून के विरुद्ध नहीं है। फिर पूर्ववर्ती नबियों, सदाचारी ज्ञानियों का यह तरीका बताया कि वे इस किताब के अनुसार समस्त मामलों के फ़ैसले करते थे। फिर फ़रमाया कि उनको यह हिदायत की गई थी कि धर्म के सम्बन्ध में किसी प्रकार की नमी और खियानत न करेंगे और शरीअत

को दुनिया कमाने का साधन न बनाएँगे, बल्कि हर हाल में ईश्वरीय किताब के अनुसार फ़ैसला करेंगे और यदि उसकी अवज्ञा करेंगे तो विधर्मी होंगे। इसके बाद तौरत के 'क़ानूने-क़िसास' (जान के बदले जान का क़ानून) का वर्णन किया है, क्योंकि यहूदियों की असली लचक सज़ाओं और क़िसास आदि के मामलों में ही थी। इसके बाद इंजीलवालों (ईसाइयों) का वर्णन किया कि उनको भी हिदायत की गई थी कि ईश्वरीय शरीअत के अनुसार फ़ैसले करेंगे, और यदि उसके विरुद्ध करेंगे तो अवज्ञाकारी ठहरेंगे।”

“फिर क़ुरआन का वर्णन किया कि यह ग्रन्थ तौरत और इंजील की भविष्यवाणियों के अनुकूल और उसमें किए गए परिवर्तनों और मिलावटों को सुधारनेवाली है। अतः आपका कर्तव्य है कि यदि उनके किसी मामले का फ़ैसला करना हो तो इसके अनुसार कीजिए और उनकी धर्म-विरुद्ध नई बातों का जो उन्होंने अपनी किताबों में मिला रखी हैं, कदापि अनुसरण न कीजिए। उनके ईमान और मार्गदर्शन का प्रश्न आपसे न होगा। उनका अपना जो मार्ग है उसी में ज़म गए हैं और उसके पक्षधर होकर वे ऐसे अन्धे हो गए हैं कि आपका अनुसरण नहीं करेंगे। यदि अल्लाह चाहता तो उन्हें संमार्ग पर लगा देता, लेकिन बलपूर्वक ऐसा करना उसकी रीति के विरुद्ध है। उसने अधिकार प्रदान किया है और जिसको जो कुछ दिया है उसमें उसकी परीक्षा ली है कि देखे कौन नेकी और आज्ञाकारिता के मार्ग में बढ़ता है और कौन अज्ञानता का पक्ष लेने की मूर्खता में फँसकर अपने तरीके और ढर्रे ही को अपना उपास्य बना लेता है।”

“इसके बाद मुसलमानों की ओर ध्यान दिया और सम्बोधन यद्यपि सामान्य है किन्तु निशाना उन मुनाफ़ि़कों ही की ओर है जो यहूदियों से गठजोड़ रखते थे और अपने विवाद उनकी अदालतों में ले जाते थे। उनको यहूदियों और ईसाइयों से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने का आदेश दिया और कहा कि जो लोग उनको अपना सहायक बनाएँगे, उनकी गिनती उन्हीं में होगी। फिर स्पष्ट शब्दों में मुनाफ़ि़कों का वर्णन किया कि उनको आशंका है कि यदि यहूदियों और मुसलमानों में टक्कर हुई और यहूदियों की विजय हुई तो वे पिस जाएँगे, इसलिए ये अपने विवाद उनकी अदालतों में ले जाते हैं ताकि उनकी पार्टी में समझे जाएँ। फिर कहा कि ऐ मुसलमानो! तुममें से जो अपने

धर्म से फिर जाएँगे तो ईश्वर को उनकी कोई चिन्ता नहीं, ईश्वर इसके बाद ऐसे लोगों को लाएगा, जिनसे वह प्रेम करेगा, और वे उससे प्रेम करेंगे। वे ईमानवालों के प्रति नर्म स्वभाव और सहनशील होंगे और इनकार करनेवालों के प्रति कठोर होंगे, ईश-मार्ग में जिहाद करेंगे और किसी की भर्त्सना की चिन्ता नहीं करेंगे।”

यह विस्तृत विवरण हमने केवल यह समझाने के लिए दिया है कि यहूदियों की तत्कालीन राजनीति और उनके साथ मुनाफ़िकों के सम्बन्ध किस प्रकार के थे, ताकि ‘तागूत से फ़ैसला कराने’ की वास्तविक धारणा हमारी समझ में आ सके और यह स्पष्ट हो सके कि मुनाफ़िक़ इससे क्या लाभ मिलने की आशा रखते थे और फिर यह ज्ञात हो सके कि किस प्रकार यह एक ही चीज़ धर्म की समस्त वचनबद्धता और स्वीकृतियों को भंग कर देने और समस्त इबादतों और आज्ञाकारिता को स्वाहा कर देनेवाली हैं। यहाँ तक कि कुरआन ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में इसको धर्म परित्याग घोषित है और घोषणा की है कि ईश्वर को ऐसे कमज़ोर, ऐसे हृदय-रोगी, ऐसे कायर और ऐसे स्वार्थपरता में लिप्त लोगों की ज़रूरत नहीं है जो यहूदियों के हाथों में कठपुतलियों के समान नाचें। उसको केवल ऐसे लोगों से प्रेम है जो अपने चरित्र और आचरण में चट्टान के समान ठोस और अपने संकल्प व निश्चय में लोहे के समान सुदृढ़ हों, जो इस्लाम में अवसरवादिता और हित-पूजा के बुत तोड़कर प्रविष्ट हुए हों और बिना किसी विभाजन के अपना सम्पूर्ण जीवन ईश्वर को समर्पित कर दें। कुरआन में कहा गया है—

“इस्लाम में प्रविष्ट हो जाओ पूरे के पूरे।” (कुरआन, 2:208)

जो लोग मात्र अपने हितों की सीमा तक ईश्वर के उपासक रहना चाहते हैं वे अपने लिए जो धर्म चाहें पसन्द कर लें, ईश्वर और उसके धर्म को उनकी आवश्यकता नहीं है—

“...लोगों में से कुछ ऐसे हैं जो खुदा की बन्दगी एक छोर पर खड़े होकर करते हैं, यदि उनको भलाई पहुँचती है तो सन्तुष्ट रहते हैं और यदि किसी परीक्षा में पड़ जाते हैं तो उल्टे फिर जाते हैं।” — कुरआन, 22:11

अर्थ-स्पष्टीकरण और व्याख्या के लिए कुरआन की सूरा-24 'नूर'
की ये आयतें भी सामने रखें —

“....वे कहते हैं कि हम ईश्वर और रसूल पर ईमान लाए और हमने आज्ञापालन करना स्वीकार किया, लेकिन इसके बाद एक गिरोह अपनी प्रतिज्ञा से फिर जाता है। ऐसे लोग कदापि ईमानवाले नहीं हैं, और जब वे ईश्वर और रसूल की ओर बुलाए जाते हैं ताकि रसूल उनके मामलों का फ़ैसला करे तो उनमें से एक पक्ष के लोग तुरन्त कतरा जाते हैं। किन्तु यदि हक़ उनकी ओर हो तो रसूल के पास बड़े आज्ञाकारी भाव से आ जाते हैं। क्या इनके दिलों को रोग लगा हुआ है? या ये सन्देह में पड़े हुए हैं? या डरते हैं कि ईश्वर और उसका रसूल उनके मामले में अन्याय करेंगे? वास्तविकता यह है कि अत्याचारी तो ये स्वयं हैं। ईमान लानेवालों को जब ईश्वर और रसूल की आर बुलाया जाता है ताकि रसूल उनके मुक़द्दमे का फ़ैसला करे तो उनका कथन यह होता है कि 'हमने सुना और माना' और यही लोग सफलता पानेवाले हैं, और जो ईश्वर और उसके रसूल की आज्ञाओं का पालन करें और ईश्वर से डरें और अवज्ञा से बचें, वही सफल हैं। और ये (मुनाफ़िक़ लोग) ईश्वर की पक्की क़समें खाते हैं और कहते हैं कि यदि तुम उनको जिहाद का आदेश दोगे तो वे अवश्य निकलेंगे। उनसे कह दो कि क़सम न खाओ, रीति के अनुसार आज्ञापालन अपेक्षित है, खुदा तुम्हारे कर्मों की जानकारी रखनेवाला है। कह दो, खुदा और रसूल की आज्ञाओं का पालन करो। फिर यदि वे मुँह फेरते हैं तो उसपर (नबी पर) उसकी ज़िम्मेदारी (अर्थात् बात पहुँचा देना) है और तुमपर तुम्हारे कर्मों (ईमान व आज्ञापालन) की ज़िम्मेदारी है। और यदि तुम आज्ञाकारी बनोगे तो संमार्ग पाओगे। और रसूल की ज़िम्मेदारी इससे अधिक कुछ नहीं है कि स्पष्ट रूप से आदेश पहुँचा दे। तुममें से जो लोग ईमान लाए और भले काम किए उनसे ईश्वर ने वादा किया है कि उनको धरती में अवश्य सत्ताधिकार प्रदान करेगा जिस प्रकार उनसे पहले गुज़रे हुए लोगों को सत्ताधिकार प्रदान किया था। उनके लिए उनके धर्म को जमाव प्रदान करेगा जिसे उसने उनके लिए

पसंद किया है। और उनकी भय-ग्रस्त स्थिति को शान्तिपूर्ण स्थिति से बदल देगा, वे मेरी बन्दगी करेंगे और किसी को मेरा साझी नहीं ठहराएँगे, और जो इसके बाद कुफ़्र करेंगे तो वही दुराचारी ठहरेंगे।”

— कुरआन, 24:47-55

जिन लोगों ने ईमान का मतलब केवल कुछ चीज़ों पर विश्वास की हद तक ईमान समझ रखा है उनको इन आयतों पर ग़ौर करना चाहिए। मुनाफ़िक़ लोग उन सब चीज़ों पर ईमान रखने के दावेदार थे। लेकिन कुरआन ने उनकी इस स्वीकृति और विश्वास को स्वीकार नहीं किया, बल्कि साफ़-साफ़ कह दिया कि ये लोग ईमानवाले नहीं हैं। यह ईमान और इस्लाम कैसा ! जबकि अपने समस्त मामलों में ईश्वर और उसके रसूल के आदेश नहीं मानते, जब अपना लाभ होता है तब तो रसूल के पास दौड़े हुए आते हैं, लेकिन जब आशंका होती है कि रसूल के फ़ैसले में उनका सांसारिक घाटा है तो यहूदियों की अदालत में अपना मामला ले जाते हैं ताकि उनकी रिश्तखोरी और चाटुकारिताप्रिय स्वभाव से लाभ उठाएँ। इनके दिलों में कपट का रोग है। ये इस्लाम के उत्थान के सम्बन्ध में सन्देह करते हैं, इन्हें ईश्वर और रसूल के न्याय पर भरोसा नहीं है। फिर स्पष्ट शब्दों में कहा कि ईमानवाले केवल वे लोग हैं जो अपने समस्त मामले ईश्वर और रसूल की अदालत में पेश करें और यहाँ से जो फ़ैसला हो उसे बिना आपत्ति के मान लें। अन्तिम आयत के शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। इनमें सच्चे मुसलमानों को शुभ-सूचना दी गई है कि मुनाफ़िक़ इस्लाम के प्रभावी होने के बारे में सन्देह में हैं लेकिन ईश्वर उनकी इच्छाओं के विपरीत ईमानवालों को प्रभुत्व प्रदान करेगा, सत्यधर्म का बोलबाला करेगा और यहूदियों व मुशरिकों के कारण जो भय व शंका की स्थिति अभी पाई जाती है उसको शीघ्र ही शान्ति और निश्चिन्तता में बदल देगा। और हमारे ये एकनिष्ठ बन्दे केवल हमारी ही बन्दगी करेंगे, किसी को हमारा साझी नहीं ठहराएँगे। यह मुनाफ़िक़ों पर अप्रत्यक्ष रूप से चोट है कि ये लोग अल्लाह के अतिरिक्त और की बन्दगी करते हैं और अल्लाह का साझी ठहराते हैं। स्पष्ट है कि यह चोट केवल इस कारण है कि वे अपने विवाद यहूदियों की अदालतों में ले जाते थे। जो लोग इबादत के

भावार्थ में आज्ञापालन को सम्मिलित नहीं समझते और समझते हैं कि यदि नमाज़ें पढ़ी जाती हैं और रोज़े रखे जाते हैं तो आज्ञापालन चाहे किसी तागूत का हो रहा हो उससे खुदा की इबादत में कोई अन्तर नहीं पड़ता, उन्हें इस आयत पर विचार करना चाहिए। यदि अल्लाह के अतिरिक्त किसी और के आज्ञापालन से अल्लाह की इबादत में कोई अन्तर नहीं पड़ता तो आखिर उन मुनाफ़िकों का क्या अपराध था कि उनको मुशरिक और अल्लाह के सिवा और की इबादत करनेवाला ठहराया गया है?

यह बात चूँकि बहुत महत्वपूर्ण है और कुरआन से अनभिज्ञता के कारण लोग इस सम्बंध में ऐसे भ्रमों में पड़ गए हैं जो सिरे से धर्म की बुनियाद ही को ढा रही हैं, इसलिए तदाधिक स्पष्टीकरण के लिए हम एक और आयत पेश करते हैं। सूरा-4 'निसा' में कहा गया है—

“....जो व्यक्ति रसूल का विरोध करे इसके बाद कि उसपर ईश्वर का मार्गदर्शन स्पष्ट हो चुका है और ईमानवालों के मार्ग के सिवा दूसरों के मार्ग का अनुसरण करे तो हम उसको उसी ओर फेर देंगे जिधर वह उन्मुख हुआ, और डाल देंगे नरक में कि वह बुरा ठिकाना है। निस्संदेह परमेश्वर इस बात को क्षमा नहीं करता कि उसका साझी ठहराया जाए और जो कुछ इसके अतिरिक्त (अर्थात् दोष) है उसको जिसके लिए चाहेगा क्षमा कर देगा, और जो ईश्वर का साझी बनाएगा वह बहुत दूर भटक गया।”

— कुरआन, 4:115-116

इन आयतों से यह बात स्पष्ट होती है कि रसूल के बताए हुए तरीक़े के विरुद्ध कार्य करना और ईमानवालों का मार्ग छोड़कर किसी अन्य मार्ग पर चलना शिर्क है और इसका दण्ड नरक है और नरक एक बुरा ठिकाना है। इस बात पर इस पहलू से तो विचार हो सकता है कि यह ईश्वर व रसूल से सिद्ध है या नहीं। लेकिन यदि इसका ईश्वर एवं रसूल की बात होना निश्चित है तो इसपर कानाफूसी करना, इसको बुद्धिमत्ता और तत्त्वदर्शिता के विरुद्ध ठहराना, इसको समय के प्रतिकूल कहना और उसको छोड़कर अपने मन से या दूसरों के अनुगामी बनकर कोई और मार्ग अपना लेना शिर्क है, और ईश्वर शिर्क को क्षमा नहीं करेगा।

“निस्सन्देह अल्लाह इस बात को क्षमा नहीं करता.....(अन्त तक)”

—कुरआन, 4:116

— वाली आयत एक ही सूरा में दो स्थानों पर आई है। एक जगह किताबवालों के शिर्क के सम्बन्ध में, जिसका वर्णन पहले हो चुका है, और यह दूसरी जगह मुनाफ़िकों के शिर्क के विवरण में है। एक समझदार व्यक्ति यदि इन दोनों स्थानों पर विचार करे तो उसे बहुत आसानी से दोनों के तथ्यों में समानता दिखाई देगी। ‘किताबवालों’ के सम्बन्ध में जहाँ यह आयत आई है, वहाँ उनके तीन शिर्क बताए गए हैं। एक यह कि वे खुदा के मार्गदर्शन पर अपनी क्रौम के मार्गदर्शन को प्राथमिकता देते हैं, दूसरा यह कि वे खुदा की किताब पर जिब्त और तागूत के अनुसरण को प्राथमिकता देते हैं, तीसरे यह कि वे ईमानवालों के तरीके पर मक्कावालों (मुशरिकों) के तरीके को प्राथमिकता देते हैं। और यहाँ इस आयत से ऊपरवाली आयत में यह भूमिका है कि “‘लोगों की गुप्त कानाफूसियों में कोई भलाई नहीं है, भलाई केवल उस कानाफूसी में है जो दान देने की प्रेरणा के लिए, भले काम करने पर उभारने के लिए या लोगों के पारस्परिक सुधार के लिए हो।” शेष जो लोग खुदा और उसके रसूल के आदेश पर अपने विचार को प्राथमिकता देते हैं तो वे अपनी खुदाई के दावेदार हैं और यदि किसी दूसरे के मत और धर्म को प्राथमिकता देते हैं तो उसको इलाह (पूज्य-प्रभु)) ठहराते हैं, और इन दोनों ही स्थितियों में वे मुशरिक हैं, एकेश्वरवादी नहीं हो सकते।

5. पिछले अध्यायों का सारांश

इस विस्तृत विवरण का उद्देश्य, मात्र यह दिखाना था कि 'ला इला-ह' (नहीं है कोई पूज्य) में निहित निषेध और 'इल्लल्लाह' (सिवाय ईश्वर के) में निहित स्वीकृति ज़बान से कह देना तो अत्यन्त सरल और संक्षिप्त है, लेकिन इनकी अपेक्षाओं और अनिवार्यताओं का प्रदर्शन जब व्यावहारिक जीवन में होता है तो व्यक्ति के जीवन का कोई कोना इनके घेरे से बाहर नहीं रह जाता।

यह तथ्य पिछले तीन अध्यायों में एक उचित क्रम के साथ स्पष्ट हो गया है। मक्कावाले खुदा के अस्तित्व और उसके समस्त बुनियादी गुणों को स्वीकार करते थे, लेकिन कुरआन ने उनकी इस स्वीकृति को कोई महत्त्व नहीं दिया। किताबवालों ने उनसे बढ़कर न केवल तौहीद का बल्कि उसकी किताबों का, उसके फ़रिश्तों का और उसके रसूलों का भी इक्कार किया, लेकिन कुरआन की तुला में उनका इक्कार भी बिलकुल तुच्छ ठहरा। सबसे अन्त में मुनाफ़िक़ आए और उन्होंने सोचा कि तौहीद के तक्ज़ाज़ों और अनिवार्यताओं में से कोई बात ऐसी नहीं रह गई है जो उन्होंने पूरी न कर दी हो और शिर्क की गन्दगियों का कोई धब्बा ऐसा नहीं रह गया है जिसको उन्होंने धो न डाला हो, लेकिन कुरआन ने उनके अन्दर से भी शिर्क का खोट निकालकर उनके सामने रख दिया और प्रत्येक गिरोह को सूचित कर दिया कि तुममें से कोई भी ईश्वर के प्रति निश्चल और एकनिष्ठ नहीं है। प्रत्येक ने अपनी बन्दगी में दूसरों को साझी बना रखा है और अल्लाह की नज़र में उस बन्दगी का कोई मूल्य नहीं है जिसमें शिर्क की मिलावट हो। अब तीनों गिरोहों की अपराध-सूची पर दृष्टि डालें—

बनी इसमाईल (इसमाईल की सन्तान अर्थात् मक्कावासियों) से कहा गया—

तुम फ़रिश्तों को बन्दगी (दासता) के पद से उच्च समझते हो। उनको ईश्वर की बेटियाँ ठहराते हो। उनकी पूजा करते हो। इस पूजा को ईश्वर का

सामीप्य प्राप्त करने का साधन समझते हो। धन-सम्पत्ति व सन्तान और दुनिया की खुशहाली व सम्पन्नता को उनकी कृपा का फल ठहराते हो। ईश्वर के पास उनकी सिफ़ारिश को मोक्ष का साधन मानते हो। उनसे ईश्वर की तरह प्रेम करते हो। उनको परोक्षज्ञाता मानते हो।

इसी तरह जिन्नों को ईश्वर के समकक्ष समझते हो। उनको खुदा की तरह लाभ और हानि पहुँचानेवाला मानते हो। उनकी दुहाई देते हो। उनकी प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए अपनी सन्तान की हत्या करते हो। उनकी पहुँच फ़रिश्तों तक मानते हो। उनको परोक्ष-ज्ञान का साधन जानते हो। उनकी बन्दगी करते हो। उनसे दैवी-ज्ञान प्राप्त करने के लिए ध्यानस्थ होते हो। नक्षत्रों को विश्व-व्यवस्था के प्रबंध में स्वतन्त्र एवं प्रभावी मानते हो। वर्षा को नक्षत्रों की देन समझते हो। अपनी समस्त कारोबारी चहल-पहल को शिअरा नामक तारे की बरकत समझते हो।

तुमने अपने इन उपास्यों की एक सभा बनाई है। उसमें ईश्वर की हैसियत बस एक बड़े देवता की है, जिसका सम्बन्ध मात्र उसकी राजधानी आकाश से है। धरती उसके साम्राज्य का एक दूरस्थ क्षेत्र है, जिसका प्रबन्ध वह अपने कर्मचारियों को सौंपकर स्वयं उससे अलग है। तुम उन उपास्यों की इबादत करते हो, तुमने उनके लिए पूजा-स्थल और मठ बनाए हैं। तुम उनके दर्शन के लिए तीर्थयात्रा करते हो, उनके लिए बलि चढ़ाते हो, भेंट और चढ़ावे प्रस्तुत करते हो, उनके नाम पर पशु छोड़ते हो, उनके सम्बन्ध से बहुत-सी चीज़ें हराम व हलाल करते हो, उनके समक्ष उपस्थित होकर फ़ाल (शगुन) के तीरों से उनकी इच्छा मालूम करते हो, उनकी क्रसमें खाते हो।

तुमने अपने पूर्वजों की क़ब्रों और उनके अवशेष चिह्नों को पूजा-स्थल बना लिया है। तुम उनको सिफ़ारिश करनेवाला और उनकी इबादत को ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करने का साधन समझते हो, उनकी रस्मों को धर्म और विधान ठहराते हो।

फिर तुम खुद भी पूज्य बन बैठे हो। तुम ईश्वर के मार्गदर्शन की जगह अपने मन की इच्छा या दूसरों के क़ानून का अनुसरण करते हो, तुमने बाप-

दादा के मार्ग और रीति-रिवाजों को धर्म-विधान बना रखा है और इस प्रकार समाज, कुटुम्ब और कबीले को खुदा (उपास्य) बनाए बैठे हो, अपने मन से कानून और शरीअत बनाते हो, तुम्हारे पूर्वज इबराहीम और इसमाईल (अलै०) के द्वारा ईश्वर ने जो धर्म तुम्हें दिया था उसमें तुमने अपनी ओर से अनुचित नई चीजें मिला दी हैं। तुम स्वयं अपने कानून-निर्माता बन गए हो। तुम ईश्वर द्वारा प्रदत्त नेमतों को व्यक्तिगत पात्रता का फल और अपने ज्ञान और कला का परिणाम समझते हो, तुमको अपनी महानता का घमण्ड है, तुमको इबराहीम (अलै०) की सन्तान होने का दम्भ है, तुम समझते हो कि तुम्हारा प्रत्येक कार्य बिना प्रमाण के ही ईश्वरीय विधान के अनुकूल है। ये समस्त बातें शिर्क हैं। खुदापरस्ती के दावे के साथ इनका कोई जोड़ नहीं है।

किताबवालों से कुरआन ने कहा'—

तौहीद (एकेश्वरवाद) और खुदापरस्ती का तुम्हारा दावा भी झूठा है। तुम अपने धर्म-ज्ञाताओं और संन्यासियों को कानून-निर्माण करने और हलाल व हराम ठहराने का अधिकार देते हो। ये जो कुछ कह दें तुम्हारे लिए वे सर्वशक्तिमान ईश्वर के आदेश हैं। ये धरती पर जो बाँधें वह आकाश पर बाँधा जाता है और धरती पर जो खोलें वह आकाश पर भी खोला जाता है। तुम किताब और नबी के तरीके के प्रकाश में कोई निर्णय लेने के बदले ज्योतिषियों के कथन से काम लेते हो। यहूदी उज़ैर को खुदा का बेटा कहते हैं, ईसाई मसीह को खुदा का बेटा कहते हैं, उनको खुदा का अवतार मानते हैं। खुदाई को तीन भागों में विभाजित करते हैं और खुदा को इस तीन का तीसरा ठहराते हैं।

फिर तुम अपनी महानता के दावेदार हो। तुम्हें इबराहीम (अलै०) की सन्तान होने का घमण्ड है। तुम इस सम्बन्ध को ईश्वर के सामीप्य और उसका प्रिय होने के लिए पर्याप्त समझते हो और ईश्वर के आज्ञापालन से निकलकर तागूत बन बैठे हो। तुमने ईश्वरीय ग्रन्थ अपने पास होने के बावजूद निरंकुश बादशाहों की बन्दगी अपनाई और तागूती व्यवस्थाएँ या तो स्वयं

1. इससे संकेत यहूदी और ईसाइयों की ओर है।

स्थापित कीं या अत्याचारियों की स्थापित की हुई तागूती व्यवस्थाओं को स्वीकार किया। तुम स्वयं को पाक और खुदा का चुना हुआ समझते हो और तुम्हारा विचार यह है कि जो कर्म तुमसे हो जाए वह पाक और निर्मल और ईश्वर एवं धर्म का काम हो जाता है, उसका ईश्वरीय आदेशों के अनुसार होना ज़रूरी नहीं। तुमने खुदा के नबियों को विभाजित कर रखा है, एक गिरोह को मानते हो, दूसरे का इनकार करते हो। ईश्वर के मार्गदर्शन की जगह अपने मार्गदर्शन, अपने तरीके, अपने नबियों और अपनी जाति को ही मार्गदर्शन का केन्द्र मानते हो। तुम दावेदार हो कि तुम्हारे लिए स्थाई यातना नहीं है। कुछ भी करो, थोड़ी-सी सज़ा भुगतकर ईश्वर के सामीप्य का उच्च पद प्राप्त कर लोगे। तुम जादू-टोने, रमल, जफ़र और तुच्छ विद्याओं पर ईमान रखते हो। तुम उन लीडरों और ज्योतिषियों पर ईमान रखते हो जिनकी बातें ईश्वर के मार्गदर्शन से अलग हैं और जो शैतान के अनुयायी और स्वयं तागूत हैं। तुम शिर्क के समर्थक हो और मुशरिकों के तरीके को ईमानवालों के तरीके पर प्राथमिकता देते हो। ये सारी बातें विशुद्ध एकेश्वरवाद के विरुद्ध हैं।

मुनाफ़ि़कों से कुरआन ने कहा—

तुम्हारा तौहीद का दावा भी झूठा है। तुम तागूत से फ़ैसला कराने के अपराधी हो। तुम अपने विवाद उनकी अदालतों में ले जाते हो जो ईश्वर और उसके रसूल के मार्गदर्शन से हटे हुए हैं। तुम्हारी धारणा यह है कि रसूल का आज्ञापालन अनिवार्य नहीं या तुम्हारा व्यवहार बताता है कि तुम रसूल के अनुसरण को ज़रूरी नहीं समझते या ये दोनों ही बुराइयाँ तुम में पाई जाती हैं। जबकि खुदा की आज्ञाकारिता रसूल की आज्ञाकारिता के बिना संभव नहीं और खुदा की इबादत और उपासना का दावा बिना रसूल के आज्ञापालन के झूठा है। तौहीद की अनिवार्य शर्त यह है कि स्वयं को पूर्णतः रसूल के प्रति समर्पित करो। उसके आदेशों का पूरी तरह पालन करो। अपने समस्त विवाद उसी के पास ले जाओ और उसके फ़ैसलों को निर्विवाद स्वीकार करो। तुम अल्लाह और उसके रसूल की शिक्षा में ऐब निकालते हो या अपने दिलों में

अपने आक्षेपों को छिपाए हुए हो और उसके प्रति शंकाएं, सन्देह, दुविधाएं और खटक लिए हुए हो। ईश्वर और रसूल ने ईमानवालों के लिए जो मार्ग निश्चित कर दिया है उससे विमुख होते हो। रसूल का अनुसरण केवल अपने सांसारिक स्वार्थों की सीमा तक करना चाहते हो। तुम अपने सांसारिक हितों, अपनी व्यक्तिगत दिलचस्पियों, अपने रक्त-सम्बन्धों और मैत्री अनुबन्धों को ईश्वर, रसूल और उसके धर्म से अधिक प्रिय समझते हो। ये समस्त बातें शिर्क हैं। और ईश्वर शिर्क को कभी क्षमा नहीं करेगा।”

6. वर्तमान संसार की सामान्य समीक्षा

अब हमारे पास वह प्रकाश मौजूद है जिसको लेकर हम संसार की समीक्षा कर सकते हैं और देख सकते हैं कि दुनिया की वर्तमान जातियों, विशेषतः सुसंस्कृत जातियों का शिर्क और मूर्तिपूजा की दृष्टि से क्या हाल है। लेकिन इस पुस्तक के हर अध्याय में अत्यन्त संक्षेप-वर्णन का ध्यान रखा गया है। इसलिए पहले तो हम वार्ता को सामान्य संकेतों तक ही सीमित रखेंगे, दूसरे हर धर्म के धर्मावलम्बियों की केवल वर्तमान स्थिति को सामने रखेंगे, उनके धर्मों की वास्तविकता से बहस नहीं करेंगे। तीसरे केवल उन जातियों को लेंगे जो सांस्कृतिक दृष्टिकोण से कुछ महत्त्व रखती हैं, अन्यथा यह वार्ता इतनी लम्बी हो जाएगी कि इसको समेटना मुश्किल हो जाएगा।

बहस की आसानी के लिए हम पहले पूर्वी क्षेत्र की जातियों और बौद्ध धर्मावलम्बियों की समीक्षा करेंगे, फिर हिन्दुस्तान को देखेंगे, उसके बाद एक ओर पश्चिमी यूरोप और अमेरिका का और दूसरी ओर रूस का निरीक्षण करेंगे, ताकि अन्दाज़ा हो सके कि आधुनिक सभ्यता के इन पदों के अन्दर शिर्क की कैसी धिनौनी और अप्रिय शकलें छिपी हुई हैं और ज्ञान और अनुसंधान के दावेदारों के इस दावे के बावजूद कि अब शिर्क दुनिया से लुप्त हो चुका है, वह कैसे आश्चर्यजनक व्यापकता के साथ पूरे भूमण्डल पर छाया हुआ है।

(1) सुदूर पूर्व के देश

सुदूर पूर्व की जातियों का बहुत बड़ा भाग साधारणतया चार धर्मों का अनुयायी है। शिन्टो धर्म, ताओ धर्म (Taoism), कनफ़्यूशिज्म और बौद्ध धर्म।

जापान का असली धर्म शिन्टो धर्म है। वैसे तो जापान की धरती पाँच सौ धर्मों की धरती कही जाती है, लेकिन उसका प्राचीनतम और नवीनतम धर्म शिन्टो धर्म है। छठी शताब्दी के अन्त में, कोरिया के मार्ग से, वहाँ बौद्ध

धर्म भी प्रवेश कर गया था और नवीं शताब्दी तक उसने शिन्टो धर्म को पूर्णतः निगल लिया था। लेकिन सत्रहवीं शताब्दी में जापानी राष्ट्रवाद की जो प्रबल लहर उठी, उसने देश के इस प्राचीन धर्म को पुनर्जीवित कर दिया और उसके बाद से अब यही जापान का सरकारी और राष्ट्रीय धर्म है।

इस धर्म का मुख्य सिद्धान्त प्रकृति और पूर्वजों की उपासना है। इसमें कोई अस्सी लाख देवी-देवता हैं, किन्तु सर्वप्रमुख सूर्यदेवता है जिसका पौत्र, जापानियों के विश्वासानुसार, जापान का प्रथम शासक हुआ। उसी से जापान की राजसत्ता एक के बाद दूसरे तक हस्तान्तरित होती हुई वर्तमान मेकाडो को मिली है। इस सूर्यदेवता की नस्ल हजार वर्षों से जापान पर शासन कर रही है। यद्यपि इस धर्म में समुद्र की देवी, नदियों की देवी, पहाड़ों की देवी, अग्नि की देवी आदि असंख्य देवियाँ मानी जाती हैं और जाति के बलिदानी वीर सैनिकों और राज-परिवार के स्वामीभक्त सेवकों की भी पूजा होती है, लेकिन शिन्टो धर्म का आधारभूत सिद्धान्त राज-परिवार की सबसे पहली महान देवी और उसके सम्बन्धियों और उसकी सन्तान की पूजा करना है।

चीन का बड़ा भाग ताओ धर्म, कनफ्यूशिज्म और बौद्ध धर्म का अनुयायी है। प्राचीन काल से पूर्वजों, भूतों, शैतानों, देवियों और देवताओं की पूजा इन धर्मों की मूल विशेषता रही है। प्रथम-वर्णित दोनों धर्म पूर्वज-पूजा और प्रकृति-पूजा को सिद्धान्ततः स्वीकार करते हैं। बौद्ध धर्म यद्यपि मूल रूप से पूर्वज-पूजा का पक्षपाती नहीं है, लेकिन चीन में पहुँचकर वहाँ के प्राचीन धर्म ने इसे भी अपने रंग में रंग लिया और अब ये तीनों धर्म चीन में पूर्वज-पूजा, दृश्य-प्रपंच पूजा और पिशाच-पूजा के धर्म हैं। जादू, मन्त्र, टोने, शोबदे इनकी सम्मिलित विशेषताएँ हैं और इन धर्मावलम्बियों की भ्रामक आस्थाओं और अनर्गल बातों की कथा इतनी लम्बी है कि पढ़नेवाला थक-थक जाता है।

ताओ धर्म का संस्थापक लाउत्ज़े है। उसका मूल दर्शन निषेध का दर्शन है। उसका धार्मिक ग्रन्थ मुशाकिल से तरकस की इंजील के आधे के बराबर

होगा। लेकिन इस धर्म के अनुयायियों ने बाद में उसपर जिन अन्धविश्वासों की अभिवृद्धि की है, उनका विवरण मोटी जिल्दों में भी नहीं समा सकता। ताओ धर्म के साधु सौ वर्ष ईसा-पूर्व से पूर्वी समुद्र में परियों के एक ऐसे द्वीप की खोज में फिर रहे हैं जहाँ स्वर्ग का सदाबहार वृक्ष उगता है। उन्होंने सम्पूर्ण आकाश को देवी-देवताओं से और सम्पूर्ण पृथ्वी को जादूगरों और मायावी पुरुषों से भर दिया है। उनकी धारणा यह है कि मानव यदि अपनी बाह्य प्रतीकियों के निषेध और अमर जीवन का रहस्य पा जाए तो आकाशीय देवताओं की श्रेणी में सम्मिलित हो जाता है। उनकी आकाशीय देवियों में 'आकाश-रानी' या 'पवित्र माता' को सर्वाधिक महानता और महत्त्व प्राप्त है। यही समुद्रों की देवी और लहरों एवं तूफानों की रानी है। प्रत्येक चीनी मल्लाह, प्रत्येक मछुवारा, प्रत्येक नाविक और प्रत्येक समुद्री पर्यटक की यह रक्षक है। जब समुद्र में कोई विपत्ति आ जाती है तो उसकी दुहाई दी जाती है। और वह तत्काल आकाश में प्रकट होकर बड़े-बड़े तूफानों एवं बवंडरों को अपनी तलवार से मार भगाती है। समुद्र के अन्धकार में भटक जानेवाले नाविकों के मार्गदर्शन के लिए यह लाल लालटेन लेकर प्रकट हुआ करती है।

कनफ्यूशिज्म का प्रवर्तक कनफ्यूशस है। चीन का मूल धर्म पूर्वज-पूजा है और कनफ्यूशिज्म की वास्तविकता इससे अधिक कुछ नहीं है कि वह पूर्वज-पूजा अनुमोदन के लिए एक प्रमाण-पत्र है। पूर्वज-पूजा चीनी मिथकवाद की रीढ़ की हड्डी है। उनके यहाँ सबसे अधिक महानता और महत्त्व मृतात्माओं को प्राप्त है। चीन की वास्तविक प्रभुता इन्हीं के हाथ में है। वैसे तो चीनी अपने सभी देवताओं के लिए बलि और भेंट चढ़ाते हैं, लेकिन सबसे अधिक शुद्ध हृदय से वे अपने बाप-दादा की उपासना करते हैं।

चीनी आस्था के अनुसार मृतात्माएँ पृथ्वी पर उपस्थित रहती हैं और उनका विचार यह है कि यदि उनको खिलाया-पिलाया न जाए, उनको प्रसन्न न रखा जाए और उनकी पूजा न की जाए तो वे क्रुद्ध हो जाती हैं और उनका क्रोध बहुत-सी विपदाएँ लाता है। उनके विश्वास के अनुसार जिस व्यक्ति की आत्मा की उसके वंशजों की ओर से पूजा व आदर सत्कार नहीं होता,

वह आत्मा एक स्थाई दुर्भाग्य में ग्रस्त हो जाती है।

चीन में व्यक्तिगत अस्तित्व की कल्पना का अभाव है। प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वजों की लम्बी शृंखला से जुड़ा समझा जाता है जो सृष्टि-रचना के आरंभ से लेकर उसके अस्तित्व तक फैला हुआ है। प्रत्येक जीवित चीनी का अस्तित्व सर्वथा मृतात्माओं की दया पर निर्भर करता है। यदि मृतकों का आदर समस्त नियत विधि-विधानों के साथ करने में कोई साधारण त्रुटि भी रह जाए तो बस प्रलय ही आ जाता है।

हज़ारों वर्ष बीत चुके हैं। चीनियों के पूर्वज पाषाण युग के ग्रामीण जीवन से निकलकर नवीन युग के शहरी जीवन में प्रवेश कर चुके हैं, पच्चीस राजवंश देश पर शासन कर चुके हैं, भयानक युद्धों और महान क्रान्तियों ने देश की धरती व आकाश बदल डाले हैं, लेकिन चीन की पूर्वज-पूजा प्रथम दिन से आज तक यथावत शेष है और उसमें बाल बराबर अन्तर नहीं आया है।

कनफ़्यूशस ने बहुत-से नैतिक सिद्धान्तों की भी शिक्षा दी है, किन्तु उसकी सम्पूर्ण शिक्षा की आधारशिला पूर्वज-पूजा है। वह कहता है कि—

“हमें अपने पूर्वजों के लिए उन्हें उपस्थित और दर्शक मानकर उनके समक्ष बलि चढ़ानी चाहिए....हमें आत्माओं की इस प्रकार उपासना करनी चाहिए मानो वे हमारे बीच विद्यमान हैं।”

यद्यपि उसने अपनी शिक्षाओं में कहीं अपने ईश्वर होने का दावा नहीं किया है, लेकिन देश के व्यापक धर्म और अपनी उल्लिखित शिक्षाओं के कारण मरने के बाद वह स्वयं भी लाउत्ज़े की तरह देवता बन गया और आज चीन में एक बड़े देवता के रूप में उसकी भी पूजा होती है।

बौद्ध धर्म का जन्म-स्थल हिन्दुस्तान की धरती है, लेकिन ब्राह्मणों ने उसको इस देश से इस प्रकार निकाला कि फिर उसने इधर आने का साहस ही नहीं किया। यहाँ से निष्कासित होने के बाद उसको हिन्दुस्तान के पूर्वी द्वीपों — बरमा, चीन, जापान, तिब्बत आदि में शरण मिली और अब जापान के अतिरिक्त, जहाँ सत्रहवीं शताब्दी के राष्ट्रीय आन्दोलन से उसकी पराजय

हुई, लगभग हर जगह पाया जाता है और चीन व तिब्बत आदि में उसके माननेवालों की एक बड़ी संख्या पाई जाती है।

गौतम बुद्ध के सम्बन्ध में सामान्य धारणा यह है कि वह ईश्वर में विश्वास नहीं रखते थे, लेकिन यह बात सही मालूम नहीं होती। संसार का प्राचीन इतिहास हमें मुशरिकों से तो भरा दिखाई देता है लेकिन ईश्वर के इनकार करनेवालों का कहीं भी कोई चिह्न नहीं मिलता। ईश्वर का इनकार करनेवाले यदि कुछ मन्द-बुद्धि मिलते हैं तो केवल वर्तमान युग में मिलते हैं। फिर गौतम बुद्ध जैसे दार्शनिक के सम्बन्ध में कैसे सोचा जा सकता है कि वे ईश्वर का इनकार करनेवाले होंगे? हमने गौतम बुद्ध के युग के इतिहास और उनके धर्म का जो थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वे अद्वैतवाद के माननेवाले थे। गौतम बुद्ध से पहले हिन्दुस्तान में उपनिषदों के द्वारा अद्वैतवाद-दर्शन अच्छी तरह फैल चुका था।

अद्वैतवाद के समर्थकों के लिए ईश्वर को मानने या उसका इनकार करने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। उनके निकट तो 'अहं' के अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व भ्रम तथा धोखा है। योगी का काम यह है कि वह जीवन और मृत्यु के चक्कर और मायाजाल से छूटकर विश्वात्मा या दूसरे शब्दों में 'अहं' में लीन हो जाए। गौतम बुद्ध के युग से पहले हिन्दू योगियों की तपस्याओं का जो इतिहास हमें मिलता है वह पूर्ण रूप से वास्तव में इसी आस्था का प्रदर्शन है। वह भाँति-भाँति की भयानक तपस्याओं द्वारा मायाजाल से निकलने और विश्वात्मा में विलीन होने के प्रयत्न में लगे हुए थे। जब गौतम बुद्ध की आँखें खुलीं और मोक्ष प्राप्ति के लिए उनके दिल में तड़प पैदा हुई तो उनके सामने भी यही दर्शन आया और उन्होंने भी ब्राह्मणों ही के अनुसार जीवन और मृत्यु के संघर्ष और इच्छाओं के जंजाल से निकलने के लिए आत्मघाती घोर तपस्याएँ आरंभ कीं। लेकिन कुछ ही दिनों के अनुभवों के बाद उनपर यह तथ्य प्रकट हो गया कि भौतिकता के आवरण से निकलने के लिए ये भयानक तपस्याएँ अनावश्यक हैं। असली चीज़ अन्तःकरण का इच्छाओं से पाक होना और आत्मा व हृदय का बाह्य प्रतीतियों के प्रेम से मुक्त होना है। अतः जहाँ तक कष्टदायक तपस्याओं का सम्बन्ध है, गौतम बुद्ध ने ब्राह्मणों के

तरीक्रे में सुधार किया और आत्म-विकास और ब्रह्मचर्य की प्राप्ति के लिए ऐसे नियम बनाए जिसमें बाह्य त्याग के बजाए आन्तरिक त्याग पर बल दिया गया था।

अद्वैतवाद का अंतिम स्वर 'अनल-हक' अर्थात् 'अहं ब्रह्मोऽस्मि' है, अतएव इस चीज ने प्रत्येक हिन्दू योगी को बन्दे के बजाए तागूत' (सत्य-विरोधी) बना दिया। गौतम बुद्ध का प्रयत्न भी इसी उद्देश्य के लिए था। अतः वे भी अपने विचार के अनुसार भौतिकता का वस्त्र उतारकर विश्वात्मा में विलीन हो गए। उनके मरने के बाद उनके श्रद्धालुओं ने उनको खुदा बना दिया। और उनके जन्म सम्बन्धी बहुत-सी बेसिर-पैर की कहानियाँ फैलाकर उन्हें एक ऐसे अवतार के रूप में प्रस्तुत किया जो दुनिया को नवजीवन प्रदान करने आया था। अब चीन, जापान, तिब्बत, बरमा आदि में उनकी उपासना ईश्वर के रूप में होती है और उनके भव्य मन्दिर और विराट मूर्तियाँ दर्शकों को चकित कर देती हैं। चीन में उनके उपासक हर प्रकार के भूतों और देवताओं की उपासना में लिप्त हैं। तिब्बत आदि में और भी बुरा हाल है। तिब्बत का सबसे बड़ा धर्म-गुरु (दलाई लामा) स्वयं गौतम बुद्ध का अवतार माना जाता है और उसी प्रकार खुदाई करता है जैसे गौतम बुद्ध। वहाँ का दलाई लामा जब मरता है तो प्रत्येक गर्भवती स्त्री एक नया खुदा जन्म देने की अभिलाषा से ओतप्रोत हो जाती है और उस अवधि में जो बच्चे पैदा होते हैं, चिड्डी के द्वारा चुनने की एक विशेष रीति से, उनमें से एक नए खुदा का चुनाव होता है।

(2) हिन्दुस्तान

हिन्दुस्तान की स्थिति और भी गंभीर है। यहाँ का प्रत्येक कण देवता है। चींटी से लेकर हाथी तक और कण से लेकर सूर्य तक सब यहाँ पूज्य और पवित्र हैं। नदी, पहाड़, वृक्ष, पत्थर, पशु, पक्षी, बिल्ली, चूहे, यहाँ तक कि कुछ गुप्त मानव अंग तक के उपासक यहाँ मिल जाएँगे।

1. तागूत के विषय में वार्ता पीछे हो चुकी है।

वेदों में हमारे सामने सबसे पहले सहस्र नेत्रवाले देवराज इन्द्र का नाम आता है। इन्द्र ने अपने व्यावहारिक नमूनों के द्वारा अपने माननेवालों को कामुकता और नशा करने की शिक्षा दी। इसके बाद ब्रह्मा, विष्णु और शिव का त्रिवाद दिखाई देता है। इनमें ब्रह्मा को स्रष्टा, विष्णु को रक्षक और शिव को मारने और जिलानेवाला देवता बताया गया है।

ब्रह्मा अपने हर कल्प के बाद संसार का प्रलय करके नवीन अस्तित्व प्रदान करते हैं। उनका मन्दिर आज तक राजपूताना में लोगों का दर्शनीय स्थान है।

विष्णु, जब दुनिया पर कोई बड़ी विपदा आती है तो, लोगों का उद्धार करने के लिए अवतार धारण करते हैं। इसके लिए उन्हें बार-बार धरती पर जन्म लेना पड़ता है। विष्णु के दस अवतार पुराणों में प्रसिद्ध हैं। कृष्णजी भी विष्णु के अवतार माने जाते हैं। हालांकि उनका जीवन जिस रंग में पेश किया जाता है और इससे जो परंपराएँ हिन्दू समाज में फैली हुई हैं उनके वर्णन से भी लज्जा आती है।

शिव को संहार करनेवाला देवता माना जाता है। शैवसंप्रदाय के अनुसार उनके कार्यों में संहार के अतिरिक्त सृष्टि और स्थिति (पालन करने) के कार्य भी सम्मिलित हैं। अर्थात् उनके अधिकार में निर्माण और विध्वंस दोनों हैं। इनका एक अर्धनारीश्वर रूप भी है, अर्थात् उनमें स्त्री और पुरुष दोनों के युग्माकार की कल्पना भी पाई जाती है।

इसके बाद हमारे सामने पतंजलि का दर्शन या हिन्दू योगदर्शन आता है। उसका आधार अद्वैतवाद पर है। इस दर्शन में अस्तित्व केवल अहं का है। उसके अतिरिक्त सब भ्रम और धोखा है। इस दर्शन का लक्ष्य यह है कि कण, सूर्य, बिन्दु, समुद्र और बन्दा खुदा बन जाए। इसका मार्ग यह है कि घोर तपस्याओं द्वारा आत्मा को पदार्थ से निर्लिप्त किया जाए। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हिन्दू योगियों और सन्तों ने जो उपाय निर्धारित किए हैं उनका विवरण सुनकर कलेजा मुँह को आता है और इसके लिए व्यवहारतः जो कुछ करके उन्होंने दिखाया है, उसकी कल्पना से भी शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते

हैं, लेकिन जो मनुष्य अपने साधारण उद्देश्यों के लिए जान की बाज़ी खेल जाया करता है, वह ईश्वर बनने के लिए जो कुछ भी कर जाए कम है। अतएव स्वीकार करना पड़ता है कि इन हिन्दू योगियों ने जिस प्रकार की तपस्याएँ की हैं, उनकी मिसालें दुनिया के इतिहास में मुशकिल ही से मिल सकेंगी। किन्तु यह सब कुछ ईश्वर की बंदगी के लिए नहीं किया गया, बल्कि ईश्वर बनने के लिए किया गया है।

देवताओं के बाद हिन्दू मिथॉलजि में देवियों की बारी आती है और इनकी संख्या कुछ कम नहीं है। इन सबकी विशेषताओं के विस्तार का यहाँ अवसर नहीं है, तथापि यहाँ लक्ष्मी, दुर्गा, भैरवी और काली माई के नाम लिए जा सकते हैं। विशेषतः इनमें से काली माई को हिन्दुओं के यहाँ बड़ा महत्त्व प्राप्त है। हैजा आदि जैसे खतरनाक रोग सब काली माई के प्रकोपों के प्रकट रूप समझे जाते हैं।

हिन्दुओं में जितने भी संप्रदाय हैं वे या तो इन देवी-देवताओं के उपासक हैं या गीता और पतंजलि के दर्शन से प्रभावित हैं। कुछ संप्रदाय जो कुछ भिन्न नज़र आते हैं उनका मतभेद केवल बाह्य है, तथ्य और सार की दृष्टि से उनमें कोई अन्तर नहीं है। केवल दो सम्प्रदाय ऐसे हैं जिन्हें हम किसी हद तक अपवाद की श्रेणी में रखते हैं, एक आर्य-समाजी, दूसरे सिख। ये दोनों इस्लाम से प्रभावित हुए हैं और इस्लाम की तौहीद (एकेश्वरवाद) से कुछ निकट आए हैं। लेकिन इस्लाम से उनकी निकटता एक प्रतिरक्षात्मक भावना के अन्तर्गत अस्तित्व में आई है, इस कारण इस निकटता के बावजूद वे इस्लाम से दूर ही हैं। हालांकि उनको मुसलमानों के मूल सिद्धान्तों से निकट होने के कारण उनसे प्रेम करना चाहिए था, चाहे जो भी हो यह सुधार उन्होंने चाहे जिस भावना के अन्तर्गत स्वीकार किया हो, एक महत्वपूर्ण सुधार है और इसके कारण वे इस्लाम की बुनियादी शिक्षा के निकट आ गए हैं।

भारत जैसे विशाल देश की यह स्थिति है, जहाँ की जनता प्रायः धार्मिक प्रवृत्ति की है। यहाँ के जन-साधारण और विशिष्ट लोग अधिकतर बहुदेववादी बातों में फँसे हुए हैं। यहाँ के अच्छे मस्तिष्कों पर गीता का अद्वैतवाद छाया हुआ है। आर्यों और सिखों की पराकाष्ठा यह है कि ये मूर्तिपूजा के विरोधी हैं

और एकेश्वरवाद के समर्थक हैं। किन्तु हमारी दृष्टि में वास्तविक तौहीद (एकेश्वरवाद) तक पहुँचने के लिए अभी इनको बहुत-सी मंज़िलें पार करनी शेष हैं।

जिस प्रकार हिन्दुस्तान पर मुसलमानों के प्रभुत्व के प्रभाव से सिख-धर्म और आर्य-समाज का आविर्भाव हुआ, उसी तरह अंग्रेज़ों के प्रभुत्व और पश्चिम के नवीन विचारों और दृष्टिकोणों के प्रभाव से एक नये गिरोह का आविर्भाव हुआ जो अपेक्षाकृत अधिक उन्नतिशील है। इसने बहुत हद तक प्राचीन हिन्दू मिथॉलॉजि के अंधविश्वासों से अपने मस्तिष्क को मुक्त कर लिया है, लेकिन यह एक दूसरी मिथॉलॉजि तैयार कर रहा है, जिसकी सामग्री उसने पश्चिम से ली है। इसमें प्राचीन देवी-देवताओं की जगह नवीन देवी-देवता हैं। इसमें इनसान स्वयं अपना उपास्य है, अपने लिए स्वयं क़ानून बनाता है, स्वयं अपने ऊपर शासन करता है और ईश्वर की धरती पर अपनी बादशाही का डंका बजाता है। इसका नाम इसने डेमॉक्रेसी रखा है।

(3) पाश्चात्य यूरोप और अमेरिका

पाश्चात्य यूरोप और अमेरिका का मुख्य धर्म ईसाइयत है। ईसाइयत के बिगाड़ का प्रारंभिक इतिहास हम पिछले पृष्ठों में वर्णन कर चुके हैं कि नीसिया की कौंसिल के बाद त्रिवेद (Trinity) की धारणा विधिवत रूप से राज्य का धर्म घोषित हुई और पोप एवं कलीसा की खुदाई का दौर शुरू हुआ। इसके अतिरिक्त हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि उक्त कौंसिल के बाद आरयूस और उसकी पार्टी, जो ईसा (अलै०) के सच्चे उत्तराधिकारी पीटर (शमऊन सफ़ा) की धारणाओं की वारिस थी और सही ईसाइयत की धारक थी, अत्यन्त अल्पसंख्यक, बल्कि अत्याचार पीड़ित एवं प्रकोपग्रस्त हो गई और पाल के रहस्यवाद और अनुचित हस्तक्षेपों के आधार पर चर्च की

-
1. इस पार्टी के बचे-खुचे सदाचारी लोग थे, जो हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के नबी होने की उद्घोषणा के बाद नबी (सल्ल०) पर ईमान लाए। उन्हीं लोगों की क़ुरआन ने जगह-जगह प्रशंसा की है, न कि पाल के अनुयायियों की; जो हमेशा एकेश्वरवाद की दुश्मनी के अगुवा रहे हैं।

रीतियों और विश्वासों का नया भवन खड़ा हुआ।

अब हमें एक सरसरी दृष्टि बीच की शताब्दियों से लेकर सुधार (Reformation) युग तक के इतिहास पर डालनी है।

इस अवधि में हमें दो बातें बहुत उभरी हुईं नज़र आती हैं। एक क्रिश्चियन चर्च (Christian Church) का एकत्व और दूसरी उसकी व्यापक सत्ता। मध्ययुग में चर्च की सत्ता ऐसी प्रभुत्वशाली और विस्तृत हो गई थी कि समस्त छोटे-छोटे राज्य उसके हाथ की कठपुतली बनकर रह गए थे और उसके समक्ष पवित्र रूमी साम्राज्य का प्रताप भी माँद पड़ गया था। लेकिन चर्च ने इस सत्ता का बहुत ग़लत लाभ उठाया। इस सत्ता के नशे में उसने वह सलीबी (ईसाइयों और मुसलमानों के मध्य) युद्ध आरंभ कर दिया, जिसने दो सौ वर्षों से अधिक समय तक संपूर्ण यूरोप में उथल-पुथल मचाए रखी। इस अवधि में 'चर्च के अधिकारियों' ने जो अपराध किए, जिस प्रकार बेझिझक इनसानों का खून बहाया, जिस प्रकार किशोर बच्चों तक को युद्ध के नशे में बदमस्त होकर तबाह कर दिया, जिस प्रकार तत्कालीन समस्त रचनात्मक प्रतिभाओं को विनाश के मार्ग पर डाल दिया, उसकी प्रतिक्रिया यूरोप में चर्च के विरुद्ध हुई। युद्ध की असफलताओं और विनाशकारिता ने विचारकों को एक सोचनीय दशा में पहुँचा दिया। हर व्यक्ति को यह महसूस होने लगा कि चर्च के अधिकारियों की सत्ता संसार के लिए मात्र विनाश है। विद्याप्रेमियों और अनुसंधानकर्त्ताओं को ऐसा लगने लगा कि चर्च सम्पूर्ण बुद्धि एवं चिन्तन पर दुःस्वप्न (Nightmare) के समान छा गया है और जब तक यह दुःस्वप्न दूर न होगा उस समय तक सोच-विचार और चिन्तन के समस्त मार्ग अवरुद्ध रहेंगे। राजनीतिज्ञ यह सोचने लगे कि राज्यों पर चर्च का प्रभुत्व पूर्णतः बुद्धि के प्रतिकूल और प्रकृति-विरुद्ध है, राजनीति को धर्म से बिल्कुल अलग होना चाहिए। यूरोप की विभिन्न जातियों को यह आभास होने लगा कि रोमन कैथोलिक चर्च दुनिया पर रूमी प्रभुत्व का एक बहाना है, इसको समाप्त होना चाहिए। यहाँ तक कि स्वयं कलीसा के अन्दर एक दल ऐसा पैदा हो गया जिसके लोग यह अनुभव करने लगे कि हम मसीह के जीवन-मार्ग से हटकर सांसारिकता की संपूर्ण शैतानियत में फँस गए हैं और हमारा उद्देश्य अब केवल धन के ढेर एकत्रित करना और अपनी झूठी बड़ाई

और तेज का प्रदर्शन करना और दुनिया का विनाश करना रह गया है। हमें गरीबों के जीवन, जनसेवा, संसार-त्याग और मसीह के अनुसरण की ओर लौटना चाहिए।

इन सभी चीजों ने संयुक्त रूप से यूरोप में वह संकट-काल पैदा कर दिया जिसे हम पुनरुत्थान (Renaissance) के नाम से जानते हैं। बेकन आदि जैसे ज्ञानवान, मेकियावेली और ह्यूगोगोटिस जैसे राजनीतिज्ञ, गार्डेनो ब्रूनो आदि जैसे स्वतंत्र विचारक इसी संकट-काल की देन हैं। कलीसा ने इन लोगों के विरोध का जवाब धार्मिक अपराधों का फ़ैसला करनेवाली अदालतों (Inquisitions) से दिया और धार्मिक तथा राजनीतिक सुधार के आवाहकों और ज्ञान-विज्ञान तथा शोध के प्रेमियों को ऐसी भयानक सज़ाएँ दीं जिनकी कल्पना मात्र से भी रोंगटे खड़े होते हैं। लेकिन इन सज़ाओं ने कलीसा के विरोध और पोपवाद की समाप्ति की माँग को और अधिक प्रबल कर दिया। विभिन्न जातियों में अपनी अस्मिता की रक्षा की भावना तीव्र से तीव्रतर हो गई। ज्ञानियों के अनुसंधान व आविष्कार का जोश प्रबल होता चला गया और दर्शनशास्त्र ने तो मानो कमर कसकर कलीसाई अन्धविश्वासों का उन्मूलन करने का संकल्प कर लिया। स्वयं कलीसाई प्रभाव-क्षेत्र के भीतर सुधार व परिवर्तन की माँग धीरे-धीरे इतनी प्रबल हो गई कि सोलहवीं शताब्दी का आरंभ होते-होते वार्डकल्फ़ हिंस और ल्यूथर जैसे सुधार के जबरदस्त पक्षधर पैदा हो गए और उन्होंने संयुक्त क्रिश्चियन चर्च को फाड़कर दो भागों में विभाजित कर दिया और विधिवत रूप से प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय की नींव रख दी जिसकी मौलिक धारणा यह थी कि मसीह और खुदा के बीच किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं है, इंजील को समझने और धार्मिक कर्मकाण्ड करने का अधिकार एक साधारण व्यक्ति को भी उसी प्रकार है जिस प्रकार रूमी पोप को।

राष्ट्रवादी राज्यों का आरंभ तो तेरहवीं शताब्दी ही में हो चुका था। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते राष्ट्रवाद, संयुक्त राष्ट्र, धर्म और राजनीति की पृथक्ता और धार्मिक सहिष्णुता का जोर इतना बढ़ गया कि कलीसा को — चाहे कैथॉलिक हो या प्रोटेस्टेंट — अपना सम्पूर्ण कारोबार समेटना पड़ा। ज्ञान व राजनीति और उद्योग व अर्थव्यवस्था के

समस्त विभाग चर्च के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हो गए और उनके स्थान पर अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों की वे राजनीतिक संस्थाएँ अस्तित्व में आ गईं जिनमें धर्म केवल व्यक्तिगत जीवन का एक व्यापार रह गया और सामूहिक जीवन पर पादरियों और सन्तों के प्रभुत्व के स्थान पर जनसामान्य और संसदों की प्रभुता की शुरुआत हो गई।

इस विवरण से यह बात स्पष्ट हो गई कि ईसाइयों को विशुद्ध ईशपरायणता का सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं हुआ। पॉल ने उन्हें मसीह, मरयम, काहिन और अमर्यादित लोगों की उपासना या आज्ञाकारिता में फँसा दिया और रोमन कैथोलिक चर्च के बहुदेववादी अनर्गलता का द्वार खोला और ल्यूथर के सुधारों ने चर्च को सामाजिक जीवन से बहिष्कृत करके उसके स्थान पर जनता, पार्लियामेंट के सदस्यों, बादशाहों और राष्ट्रपतियों को प्रदान किया और इस प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के अलग-अलग प्रभु बना लिए गए।

सन् 1914 ई० के विश्व-युद्ध ने जब गणतंत्रों की दुर्बलता स्पष्ट कर दी तो यूरोप के कुछ देशों में तानाशाही का आरंभ हुआ। गणतन्त्र और तानाशाही में अन्तर केवल प्रभुओं की संख्या का है। गणतंत्र में 'बहुत-से प्रभु' मिलकर कानून बनाते और अपनी प्रभुता जमाते हैं, जबकि तानाशाही में केवल 'एक प्रभु' अपने समर्थकों और सहयोगियों की सहायता से अपनी प्रभुता जमाता है।

(4) रूस

रूस में साम्यवाद का प्रभुत्व है।¹ साम्यवाद गणतन्त्र का अन्तिम चरण है। गणतन्त्र ने धर्म और खुदा को प्राइवेट जीवन तक सीमित कर दिया था। साम्यवाद ने यह नाता भी काट दिया और मानव-जीवन के प्रत्येक विभाग पर मानव की सम्प्रभुता थोप दी। वहाँ ईसाई त्रिदेव के स्थान पर मार्क्स, लेनिन और स्टालिन का त्रिदेववाद है। इन तीनों ने जो धारणात्मक व्यवस्था, नैतिक-व्यवस्था और आर्थिक-व्यवस्था निर्मित कर दी है वही रूस का धर्म है।

1. अब रूस में साम्यवाद का पूर्णतः विनाश हो चुका है। वहाँ नव-गणतन्त्र स्थापित हो गया है।

7. क्या शिर्क मानव-प्रकृति की माँग है?

इस युग में प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान और कला के अनुसंधान में वास्तविक मार्ग-दर्शक विकासवाद को माना जाता है। इतिहास हो या क्लानून, अर्थ हो या राजनीति, दर्शन और धर्म हो या नागरिकता और संस्कृति, प्रत्येक की पहली कड़ी की खोज का शौक इस युग की रुचि पर इस तरह छाया हुआ है कि इसके बिना हर ज्ञान खण्डित समझा जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान और कला की संकलित पूँजी, जो पूरे प्रकाश में मौजूद है, अपना उचित मूल्यांकन कराने के लिए न केवल अपर्याप्त समझी जाती है बल्कि अधिकतर परिस्थितियों में वह सर्वथा ग़लत और व्यर्थ ठहरा दी गई है। आज अपेक्षित यह है कि मानव-जीवन के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में उस युग का अध्ययन किया जाए जबकि इनसान पूर्णतः बालावस्था में था और जिसका कोई लिखित इतिहास हमारे सामने नहीं है। स्पष्ट है कि यह युग अन्धकार में छुपा हुआ एक युग है। इसके बारे में जो कुछ भी कहा जाएगा, उसकी हैसियत मात्र अनुमान और अटकल के तीर-तुक्कों से अधिक नहीं हो सकती। अन्धकार में छिपे हुए इस युग के सम्बन्ध में समझा जाता है कि 'पुरातत्व विज्ञान' और 'जीव विज्ञान' के विशेषज्ञ ही हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं, किन्तु इन मार्ग-दर्शकों का हाल यह है कि ये धरती की तहों, चट्टानों की परतों और गुफाओं के भीतर पाए जानेवाले अवशेषों और चिहनों, धरती में दबी हुई हड्डियों, प्रारंभिक युग के हथियारों और औज़ारों और प्राचीन काल के मानवों द्वारा खींची हुई आड़ी-तिरछी रेखाओं को ही ज्ञान की मौलिक पूँजी ठहराते हैं और उसी पर अनुमान और कल्पना के भवन खड़े करते हैं।

इस बात को सब स्वीकार करते हैं कि इसकी हैसियत अनुमान व अटकल से अधिक नहीं है, फिर भी इसे यह महत्त्व दिया जाता है कि मानवों के प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान व कला में 'यथार्थ' वही है जो इन अनुमानों के अनुकूल हो। जो बात इनके अनुकूल न हो उनको निराधार घोषित किया जाए और उन्हें ऐसा समझा जाए कि जैसे वह विकास-मार्ग में अनुचित बाह्य हस्तक्षेप है जिसकी कभी अपेक्षा नहीं की जा सकती।

इस विचारधारा के वर्चस्व का प्रभाव यह हुआ कि एक लम्बे समय से दुनिया में राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों के जो दावे उभरे हैं उनमें से प्रत्येक को विकासवादी सिद्धान्त का सहारा लेना पड़ रहा है और यह सिद्धान्त इतना लचीला सिद्ध हुआ है कि सबके साथ इसने अपना सामन्जस्य बना लिया है। जनतन्त्र के समर्थकों ने इनसान के प्रारंभ के सामाजिक जीवन का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि मानो जनतन्त्र ही मानव-स्वभाव के अनुकूल है। राजतन्त्र से सहानुभूति रखनेवालों ने इसकी व्याख्या अपने रंग में कर डाली है। समाजवाद के ध्वजावाहकों ने इसका चित्रण अपने रंग में किया है। साम्यवाद ने इसे अपने ढंग से प्रस्तुत किया है, किन्तु धर्म जो अजनबी बनकर रह गया है वह इसे अपने पक्ष में प्रयोग नहीं कर सका है। इसका कारण यह हुआ कि चर्च और इस सिद्धान्त के ध्वजारोहियों के बीच पहले ही पग पर अनबन हो गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि इसके चालाक समर्थकों ने आरंभ ही से इसको एक धर्म-विरोधी सिद्धान्त की शकल दे दी, ताकि इसको उन धर्मों के पक्ष में प्रयोग न किया जा सके जो अपनी विशिष्टता और अद्वितीयता के दावेदार हैं और जो अपनी धारणाओं और मान्यताओं का आधार वह्य (प्रकाशना) को मानते हैं और अन्य धर्मों के साथ किसी उदारता के पक्ष में नहीं हैं। अतः इस धारणा की आड़ में नास्तिकों ने यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम की जड़ उखाड़ने का पूरा प्रयत्न किया और इस उद्देश्य के लिए धर्म की प्रगति के विकास को उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया है जिससे आसमानी धर्मों की समस्त मान्यताएँ बिलकुल असत्य होकर रह जाती हैं।

यहाँ विकासवादी सिद्धान्त पर विस्तार से बहस करने का मौका नहीं है, किन्तु हम उतने अंश को अवश्य लेंगे जिसका सम्बन्ध शिर्क और तौहीद से है।

ये लोग मज़हब के विकास के बारे में यह कहते हैं कि मज़हब ने इनसान के प्रथम पद्चिह्न के साथ दुनिया में पदार्पण किया। जिस समय मानव को यह महसूस होना शुरू हुआ कि वह मात्र एक शरीर नहीं है, बल्कि उसके अन्दर एक उच्चतर चीज़ और भी है जिसे आत्मा कहा जाता है, उसी समय

धर्म की पहली बुनियादी ईंट रख दी गई। इसकी प्रारंभिक शक्ति दो तत्वों से बनी। एक भय-भावना और दूसरी कल्पना। भय अनदेखी शक्तियों का, जिनके अन्दर इनसान ने स्वयं को घिरा हुआ अनुभव किया और जिनको बल व शक्ति में स्वयं से कहीं बढ़-चढ़कर पाया और कल्पना इस बात की कि इनका आदर और उपासना करनी चाहिए।

जिस प्रकार उन समस्त वस्तुओं का इतिहास, जो शरीर (Body) और शारीरिक चीजों से सम्बन्ध रखती हैं, जीवन के उस प्रारंभिक अणु से सम्बद्ध है जिसने पदार्थ को जीवन की गति प्रदान की है। इसी प्रकार उन समस्त चीजों का इतिहास, जो आत्मा और आत्मा से सम्बन्धित चीजों से सम्बद्ध है, उनका नाता उस आम-तत्व से है जिसकी भय-भावना और कल्पना के योगिक क्रिया से धर्म का आविर्भाव हुआ है। इस धार्मिक धारणा ने जब व्यावहारिक रूप धारण किया तो इसके परिणामस्वरूप धार्मिक कर्म, रीति-रिवाज और पूजा-पाठ का आविर्भाव हुआ। अतः धर्म विकास-प्रक्रिया का परिणाम है। वह जीवन का विकास था, यह आत्मा का विकास है। और जिस प्रकार यह बात ज्ञात है कि जीवन एक समय रेंगनेवाले जीवधारियों की शक्तों में छिपा हुआ था और विभिन्न श्रेणियों में होते हुए मानव-रूपी सर्वोत्तम संरचना के रूप में प्रकट हुआ, उसी तरह आत्मा आरंभ में प्रकृति-पूजा, पदार्थ-पूजा और जादू व जादूगरी की जंजीरों में जकड़ी हुई थी और धीरे-धीरे विशुद्ध ईश-परायणता तक पहुँच गई।

इस अभिभाषण से विकासवादी विद्वान जो निष्कर्ष निकालते हैं उनका वर्णन भी हम यहाँ अपने शब्दों में कर रहे हैं—

1. धर्म का आरंभ भय से हुआ है। इस भय का आविर्भाव प्राकृतिक घटनाओं से हुआ। बादलों की गरजन, बिजली की कड़क, आँधियों का शोर, ज्वालामुखी पहाड़ों के भयावह दृश्यों ने इनसान को डराया और वह इनको सजीव शक्तियाँ समझकर इनके प्रकोप से स्वयं को बचाने के लिए इनकी उपासना करने लगा।

2. विशुद्ध खुदा-परस्ती मानव स्वभाव के अनुकूल होने का दावा गलत है। यदि ऐसा होता तो इनसान ईश-पूजा की जगह प्रतीक-पूजा और

पदार्थ-पूजा आदि से धर्म का प्रारंभ न करता और न दुनिया में मूर्ति-पूजा और मृत-पूजा की यह बहुतायत होती जो हम इतिहास में देख रहे हैं।

3. समस्त धर्मों का मूल एक है। इस दृष्टि से इस्लाम, यहूदियत और अफ्रीका के जंगलियों की जादू-पूजा (Magic Worship) में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए समस्त धर्मों का और समस्त विविध धारणाओं का उदारतापूर्वक समान रूप से आदर करना चाहिए और इस नीति को मूल सिद्धांत स्वीकार करना चाहिए।

उपर्युक्त अभिभाषण इतना मनमोहक था कि इसने हमारे कुछ वर्तमान दीनी आलिमों की किताबों में भी जगह पा ली है, हालाँकि है यह बिलकुल निरर्थक और गलत। बुद्धि और ग्रन्थ-साक्ष्य दोनों के विरुद्ध।

यह बात कि मज़हब का प्रारंभ अनदेखी शक्तियों के भय से हुआ है और यही भावना इनसान की भावनाओं में प्रथम और प्राचीनतम है पूर्णतः निराधार है। इनसान में जो भय पाया जाता है उसकी वास्तविकता धन-दौलत और नेमतों के नष्ट हो जाने की शंका है। इनसान को अपना जीवन प्रिय है, जीवन के लिए उपयोगी वस्तु प्रिय हैं, अपने बाल-बच्चे प्रिय हैं, इसलिए वह इन चीजों की ओर से शंकाग्रस्त रहता है कि कहीं ये चीजें उससे छिन न जाएँ, जिसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह हुआ कि इन चीजों के बारे में भय व आशंका में ग्रस्त होने से पहले इन चीजों के नेमत होने की चेतना उसे प्राप्त है, और फिर इससे यह बात भी अनिवार्यतः सिद्ध होती है कि इन नेमतों के कारण उसे एक नेमत प्रदानकर्ता का भी ज्ञान हुआ होगा, और फिर अनिवार्यतः उसके प्रति कृतज्ञता की भावना और उसकी उपासना की धारणा भी पैदा हुई होगी। इसलिए भय से पहले नेमत और नेमत प्रदान करनेवाले का ज्ञान होना अनिवार्य है। जब तक हमें जीवन और उसके कारणों और साधनों के नेमत होने का एहसास न हो, उस समय तक हमें जीवन के बारे में कोई भय नहीं होता। इसी लिए जो लोग अपने जीवन से विरक्त हो जाते हैं, वे मृत्यु जैसी भयानक चीज़ से तनिक भी नहीं डरते। कितने ही आदमी आग में कूद पड़ते हैं, कितने ही नदियों और समुद्रों में डूब मरते हैं, जापान में कितने ही हैं जो ज्वालामुखी पहाड़ों के मुँह में छलाँग लगाकर समाप्त हो जाते हैं।

अतः यदि प्रारंभिक इनसान को बिजली की कड़क, बादलों की गरज और तूफ़ानों के शोर से कोई खतरा महसूस हुआ और उसे स्वयं को इनके खतरों से बचाने की चिन्ता हुई तो इससे अनिवार्यतः सिद्ध हाता है कि उसे जीवन और जीवन के उपकरणों और संसाधनों के नेमत होने का ज्ञान था, क्योंकि जब तक कोई वस्तु प्रिय न हो, उसकी रक्षा की चिन्ता बिलकुल निरर्थक है। फिर इससे यह भी सिद्ध होता है कि उसे एक नेमत प्रदानकर्ता का भी ज्ञान था, क्योंकि नेमत का अस्तित्व उसके प्रदानकर्ता का अनिवार्यतः ज्ञान होना है, और यदि यह बात सही है कि वह प्रकृति की इन प्रत्यक्ष भयावह चीज़ों की इस डर से उपासना करने लगा है कि ये उससे कहीं उसके जीवन की नेमत या उसके संसाधन को छीन न लें तो इससे अधिक सही बात यह मालूम होती है कि इन नेमतों के विवेक ने उसके अन्दर अपने दाता के लिए प्रेम और कृतज्ञता की भावना भी पैदा की होगी। अतः यह सिद्ध हुआ कि एक दाता होने का विवेक, उसके प्रति प्रेम और कृतज्ञता प्रकाशन (शुक्र-गुजारी) की भावना और उसकी उपासना करने की धारणा को भय-भावना और प्राकृतिक भयावह शक्तियों की इबादत के मुकाबले में प्राथमिकता प्राप्त है।

सारांश यह कि इनसान को जब से भय का अनुभव हुआ है उससे पहले उसे जीवन के बहुमूल्य प्रसाद होने और एक प्रसाद दाता और उसके प्रेम का अनुभव हुआ है, और जिस समय उसके मन ने उसे बहकाया कि वह इन प्राकृतिक चीज़ों की इबादत करे, निश्चय ही उससे पूर्व प्रेम-भाव ने उभरकर उसे प्रेरित किया होगा कि वह अपने उपकारकर्ता के प्रति कृतज्ञता का प्रदर्शन करे। प्रेम तथा कृतज्ञता प्रकाशन का यह भाव तौहीद और विशुद्ध खुदा-परस्ती का आधार है न कि शिर्क का। अतएव यही रहस्य है कि कुरआन ने ईश-स्तुति और कृतज्ञता के भाव को प्रथम स्वाभाविक पुकार बताया है।

“प्रशंसा ईश्वर ही के लिए है जो सम्पूर्ण जगत का पालनहार है।”

— कुरआन, 1:1

हमारे इस विचार की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि जो चीज़ें इनसान के अन्दर भय पैदा करती हैं वे संसार की सामान्यतः घटित होनेवाली घटनाएँ

नहीं हैं। भूकम्प रोज नहीं आया करते, ज्वालामुखी रोज नहीं फटते, बिजलियाँ रोज नहीं कड़कतीं और तूफानों का कोलाहल भी कोई दैनिक घटना नहीं है। इसके विपरीत तारे रोज छिटकते हैं, सूरज रोज चमकता है, आकाश की नीलिमा प्रति क्षण दृष्टि को सुख पहुँचाती है। चाँद रुपहली चाँदनी की चादर वनों और पर्वतों पर रोज बिछाता है, घटाएँ अपने मौसम में बरसा करती हैं और वृक्षों में फल हर मौसम में आते रहते हैं। फिर कितने आश्चर्य की बात है कि प्राकृतिक घटनाओं की यदा-कदा घुड़कियाँ और धमकियाँ तो इनसान को इतना भयभीत कर दें कि वह उनकी पूजा करने लग जाए लेकिन उस दाता की ये कृपाएँ बिलकुल बेअसर होकर रह जाएँ और इनसान में कृतज्ञता प्रकाशन का कोई भाव न जगाएँ।

जीव विज्ञान के शास्त्रियों ने उस युग के संसार की तस्वीर बहुत भयानक खींची है और यह दिखाना चाहा है कि उस आरंभ काल में प्राकृतिक घटनाएँ भय ही पैदा कर सकती थीं। लेकिन यह उनका एक भ्रम है। उस युग का संसार यदि बहुत भयानक था तो जाहिर है कि उस युग का इनसान भी आज का इनसान न था। अगर उस समय का संसार इतना सुन्दर न था जितना अब है तो उस समय का इनसान भी इतना सुन्दरता-प्रिय न था जितना वह अब है। अगर उस समय यह धरती आज की तरह उपजाऊ और सम्पन्न न थी तो उस समय का इनसान भी आज की तरह विलासप्रिय और समाजप्रिय नहीं हुआ था। यदि उस समय खतरे और कष्ट बहुत थे तो आज के इनसान की तरह उस युग का इनसान दुर्बल और आराम-पसंद भी न था। वह प्रत्येक खतरे से बचाव के लिए कोसों भाग सकता था, गिलहरियों और बन्दरों की-सी तेज़ी के साथ वृक्षों पर चढ़ सकता था, आग जलाकर और पत्ते सीकर अपने शरीर को सर्दी और गर्मी के कष्ट से बचा सकता था। हिमपात और हिंसक पशुओं की मुसीबतों से बचने के लिए गुफाओं में छिप सकता था, भूख में हर प्रकार के जानवरों के शिकार से अपना पेट भर सकता था। इसलिए यह विचार सही नहीं है कि उस समय की परिस्थितियाँ मात्र भय को बढ़ाने के लिए अनुकूल थीं। इसमें वर्तमान को भूतकाल में प्रविष्ट कर देने की भूल हो रही है। काल तो आदिम पाषाण-युग से भी पहले का मान लिया गया है और उस समय के मनुष्य को आज का मनुष्य समझा गया है।

कुछ विकासवादी चिन्तकों की दृष्टि में कुटुम्ब के बड़े-बूढ़े जिन कारणों से डरते हैं, वही कारणमनुष्य के अत्यन्त प्रारंभिक विचारों में भी क्रियाशील रहा है, लेकिन हमारी दृष्टि में कुटुम्ब के वयोवृद्ध व्यक्ति के इस भय का कारण भी प्रेम ही है। बच्चों को समस्त आनन्द और सुख-सुविधाएँ माता-पिता के द्वारा ही प्राप्त होती हैं, इस कारण वे उनसे प्रेम करने लगते हैं और इस प्रेम ही के कारण उनसे डरने लगते हैं। अतः इस डर के पीछे भी एक प्रकार से प्रेम ही काम कर रहा होता है, और इसी परिप्रेक्ष्य में माता-पिता के आदर के अर्थ को भी समझा जा सकता है। लेकिन इस तथ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि बच्चा जब तक बच्चा रहता है-उस समय तक तो वह निस्संदेह सारा संसार अपने बाप ही को समझता है, लेकिन ज्यों ही वह स्वयं बाप बनता है या बाप बनने के योग्य हो जाता है, उसे अनुभव होने लगता है कि बाप का अस्तित्व एक सीमा तक ही उसके आनन्द और सुख-सुविधाओं का सामान जुटा सकता है। इस सीमा से बाहर कदम रखने के बाद जो कुछ उसे प्राप्त हुआ है उसका स्रोत कोई और ही अनदेखी हस्ती है। यहाँ तक कि स्वयं बाप का अस्तित्व भी उसे अनदेखी हस्ती की अपार कृपाओं में से एक कृपा ही प्रतीत होता है। अतः जिस प्रेम-भाव ने उसके अन्दर बाप के प्रति प्रेम, आदर और भय का भाव जगाया होगा, अनिवार्यतः उसी भाव ने बचपन की सीमा से निकलने के बाद उसके अन्दर एक अनदेखी हस्ती के प्रति प्रेम, आदर और भय का भाव भी जगाया होगा। यदि इनसान सदा बाल्यावस्था ही में रहता तब तो निस्संदेह धर्म का आरंभ पितृ-पूजा से होता और भय और कष्ट पर ही समाप्त हो जाता। लेकिन बच्चा प्रौढ़ावस्था को भी प्राप्त होता है और मजहब प्रौढ़ों ही का आविष्कार हो सकता है तो प्रौढ़ यदि बाप के उपकारों के कारण उसके आदर और उसकी प्रतिष्ठा व सम्मान की कल्पना कर सकता था तो इससे कहीं अधिक संभव यह है कि उन महान उपकारों का प्रभाव भी उसी भावना व कल्पना के रूप में व्यक्त हो, जिनमें बाप का कोई हाथ नहीं था लेकिन वे पाए जाते थे और वे उपकार बाप से कहीं बढ़कर किसी दयालु और करुणामयी हस्ती के हो सकते थे।¹

1. मजहब के स्रोत के संबंध में विकासवादी विद्वानों के यही दो स्वीकृत दृष्टिकोण हैं
(शेष फुटनोट अगले पृष्ठ पर)

सारांश यह कि यह बात किसी तरह भी मानी नहीं जा सकती कि धर्म का आरंभ भय से हुआ है, बल्कि धर्म का आरंभ प्रेम-भावना से हुआ है। विकासवादी विद्वानों की उपर्युक्त दोनों धारणाएँ सत्य के विपरीत हैं। पहली स्थिति में एक वास्तविक दाता की कृतज्ञता और प्रेम की भावना और उसकी इबादत की कल्पना को प्राथमिकता प्राप्त है और ईश्वर के सिवा अन्य के भय की भावना और उसकी उपासना की कल्पना एक प्रकृति के विरुद्ध किसी चीज़ में ग्रस्त होने के समानार्थक है। इस दशा में मनुष्य अपने विवेक-दोषों और अपने अंतर की आवाज़ की उपेक्षा के कारण ही ग्रस्त हो गया है। दूसरी स्थिति में यह होना चाहिए कि इनसान पिता के प्रेम का हाथ पकड़कर ईश्वर तक पहुँच जाए। उसकी इस भावना का स्वाभाविक विकास यदि कोई हो सकता है तो केवल यही कि वह बाप पर आश्रित न होने के साथ ही वास्तविक स्रष्टा तक पहुँच जाए और उसके साथ बाप से अधिक प्रेम करे और बाप से अधिक उसका आदर करे। लेकिन यदि वह ऐसा न कर सका तो इसका अर्थ यह है कि वह विकास के वास्तविक राजमार्ग पर आगे बढ़ने के बजाए किसी अन्धी गली में जा पड़ा और यह आध्यात्मिक विकास में उसी प्रकार की अप्राकृतिक जड़ता है, जिस प्रकार की अप्राकृतिक जड़ता के उदाहरण हमें भौतिक जीवन के विकास में मिलते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि सबसे प्राचीन भावना माता-पिता के प्रेम की भावना और सबसे प्राचीन कल्पना माता-पिता के सम्मान एवं आदर की कल्पना है। लेकिन यह भावना, जैसा कि स्पष्ट हुआ, बच्चे को प्रौढ़ावस्था के पश्चात

(पिछले पृष्ठ का शेष फुटनोट)

और इन्हीं दोनों को अपेक्षाकृत शास्त्रीय ढंग से पेश करने का प्रयत्न किया गया है। इसी कारण हमने भी इन्हीं दोनों के संबंध में विचार किया है। इसके अतिरिक्त और भी धारणाएँ हैं, जैसे कुछ ने धर्म का आरंभिक बिन्दु टोटेमवाद (Totemism) यानी वंश-कुलपरंपरावाद को ठहराया है। कुछ ने इसका आधार आरंभिक इनसान पर किसी नशीली चीज़ के प्रयोग के आनन्दातिरेक प्रभाव को ठहराया है। कुछ ने इसका आधार संभोगेच्छाओं पर रखा है, लेकिन स्पष्ट है कि ये ऐसी अनर्गल बातें हैं जिनका खण्डन करने की ज़रूरत नहीं है।

ईश्वर की ओर ले आती है, न कि पूर्वज-पूजा और क़बाइली देवताओं की ओर। अतएव यही कारण है कि क़ुरआन और तौरैत में ईश्वर की इबादत और माता-पिता के साथ उपकार का आदेश साथ-साथ दिया गया है। इसका अर्थ यह होता है कि मानव-प्रकृति में ईश्वर और माता-पिता के अधिकारों का विवेक अत्यंत प्राचीन है और इस विवेक में माता-पिता का अधिकार पहले आता है, किन्तु स्थान की दृष्टि से ईश्वर के अधिकार को माता-पिता के अधिकार की अपेक्षा प्राथमिकता प्राप्त है। यह उसी तरह है जैसे छत पर चढ़ने से पूर्व ज़ीना ऊपर होता है, लेकिन उसपर पहुँच जाने के बाद ज़ीना नीचे हो जाता है। ईश्वर तक पहुँच जाने के बाद इनसान पर यह रहस्य खुलता है कि माता-पिता भी वास्तव में परमेश्वर की नेमतों में से हैं, उनको पूजना तो अलग रहा, इस नेमत के मिलने पर भी ईश्वर ही के प्रति कृतज्ञता दिखाना आवश्यक है। यही कारण है कि इस्लाम ने माता-पिता के बेटे पर सभी अधिकार स्वीकार किए हैं, लेकिन उन्हें यह अधिकार नहीं दिया है कि वे बेटे से शिर्क कराएँ।

“यदि तुझसे वे (माता-पिता) इस बात पर लड़ें कि तू किसी ऐसे को मेरा साझी ठहराए जिसके बारे में तुझे कोई ज्ञान नहीं तो तू उनकी बात न मानना।”

— क़ुरआन, 29:8

इसका कारण यह है कि फ़ितरत के अन्दर जो जज़्बा माता-पिता के अधिकारों के आदर और उनके प्रेम व सम्मान के प्रति पाया जाता है, उससे अधिक तीव्र ईश्वर और उसके अधिकारों के सम्मान और उसके प्रेम के प्रति पाया जाता है। अतः माता-पिता को यह अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है कि जिस भावना और विचार के अंतर्गत वे एक चीज़ पाते हैं, ठीक उसी भावना और विचार की इससे तीव्रतम माँग का, जो ईश्वर के प्रति पाई जाती है, उनकी अपनी सन्तान से इनकार कराएँ।

कुछ लोगों को यहाँ एक संदेह यह हो सकता है कि क़ुरआन और दूसरे आसमानी ग्रन्थों में जगह-जगह ईमान की परिभाषा में संयम, दैन्यभाव और भय का उल्लेख मिलता है, उससे तो विकासवादी विद्वानों की इस बात का समर्थन होता है कि मज़हब का प्रारंभिक बिन्दु भय-भावना है। लेकिन यह

संदेह पूर्णतः निराधार है। इस्लाम में उस भय को मान्यता प्राप्त नहीं है जो मात्र कष्ट पहुँचने की शंका पर आधारित हो। इस प्रकार का भय चंगेज, तैमूर, शेर, हाथी, साँप, बिच्छू हर चीज़ से हो सकता है। इस प्रकार का भय यदि ईश्वर से हो तो उसका क्या महत्व है? मज़हब में जो भय और संयम अभीष्ट एवं प्रिय है वह इससे सर्वथा भिन्न है। इस भय और संयम का आधार प्रेम होता है। यह मात्र ईश्वर के प्रकोप और क्रोध की कल्पना से नहीं पैदा होता, बल्कि उसकी असीम कृपाओं और उपकारों की कल्पना और उसके पवित्र नामों के स्मरण से पैदा होता है। अतएव यही कारण है कि जो लोग उसके उच्च गुणों को सबसे अधिक जानते हैं, वही लोग उससे सबसे अधिक प्रेम करते हैं, और जो उससे सबसे अधिक प्रेम करते हैं, वही उससे सबसे अधिक डरते भी हैं।

“ईश्वर से उसके बन्दों में से ज्ञानी ही डरते हैं।” —कुरआन, 35:28

हमारे इस विवेचन से विकासवादी विद्वानों के इस सिद्धान्त का पूर्णतः खण्डन हो गया है कि मज़हब का आरंभ भय-भावना और प्राकृतिक शक्तियों की उपासना से हुआ है। लेकिन एक संदेह यह अवश्य पैदा होता है कि यदि इनसान की प्रकृति विशुद्ध ईश-उपासना है और उसके आध्यात्मिक विकास की असली दिशा यही है तो इसका क्या कारण है कि दुनिया में अधिकतर साक्ष्य मूर्ति-पूजा और मृत-पूजा आदि ही के मिलते हैं? इतिहास के अंधकार-युग के अवशेष भी इसी बात की गवाही देते हैं और जिस काल की संकलित सामग्री हमारे हाथों में मौजूद है उसका साक्ष्य भी यही है। ईसाइयों पर पूरी छः शताब्दियाँ भी व्यतीत न होने पाईं कि उनमें चित्र-पूजा प्रचलित हो गई, जबकि तौरैत में इससे सख्ती से मना किया गया था। तौरैत का पहला आदेश तौहीद था, फिर भी यहूदी बार-बार खुल्लम-खुल्ला मूर्ति-पूजा में ग्रस्त हुए। हज़रत इबराहीम (अलै०) ने केवल तौहीद के लिए वतन छोड़ा और एक सुनसान जंगह में एक ईश्वर की इबादत के लिए एक घर बनाया। लेकिन उन्हीं की सन्तान ने, अभी अधिक समय नहीं व्यतीत हुआ कि उसी घर में मूर्तियों को ला बसाया। जबकि कुरआन का दावा यह है कि शुद्ध तौहीद ही इनसान का स्वभाव है, लेकिन घटनाओं का साक्ष्य इसके विरुद्ध है तो इसका

जवाब देना ज़रूरी हो जाता है। इस जवाब से विकासवादी विद्वानों के उस दूसरे विवाद-परिणाम का खण्डन भी होगा जिसका वर्णन हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं।

यह बात कि दुनिया में आरंभ से अधिकता मूर्ति-पूजा और शिर्क ही की रही है और अब तक है इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि शिर्क व मूर्ति-पूजा मानव की प्रकृति है। आदमी का बच्चा जब तक बच्चा रहता है सामने की प्रत्येक वस्तु बिना इस भेदभाव के कि वह ईंट है या पत्थर, लकड़ी है या लोहा, पाक है या नापाक, मुँह में डालने की कोशिश करता है और समझता है कि माँ की छाती यही है। कुछ देर तक उसको चूसता है, फिर कोई दूसरी चीज़ उठा लेता है, फिर कोई तीसरी चीज़ उठा लेता है। इससे यह परिणाम निकाल लेना कि ये सारी चीज़ें बच्चे को स्वाभाविक रूप से अभीष्ट हैं, मात्र मूर्खता है। बच्चे का नैसर्गिक भोजन तो माँ की छाती में होता है, लेकिन चूँकि उसको अभी पूरी-पूरी पहचान नहीं होती है इस कारण वह प्रत्येक चीज़ को माँ की छाती ही समझने लगता है। अतः यदि इनसान अपने अबोधकाल में मूर्ति-पूजा और प्राकृतिक शक्तियों की उपासना आदि की बुराइयों-में लिप्त रहा तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि यही उसकी नैसर्गिक माँग थी, बल्कि वास्तव में उसकी यह सारी परेशानी और थकान सच्चे पूज्य की तलाश में थी, उसी की चाहत ने उसको इन सभी गलियों की धूल छनवाई। बच्चे की यह विशिष्टता भी ध्यान देने योग्य है कि कभी-कभी माँ उसको पुकारती है लेकिन वह वस्तु जिसमें वह व्यस्त रहता है उसी में गुम रहता है, जब तक कि वह उसे गोद में न उठा ले और अपनी छाती उसके मुँह से न लगा दे। फिर ज्यों ही उसको सीने से अलग कर देती है वह पहले की भाँति वस्तुएँ मुँह में डालने और निगलने की कोशिश करने लग जाता है।

अतः यह बात बिलकुल बुद्धि-सम्मत जान पड़ती है कि इतिहास के अंधकार-युग में भी खुदा के ऐसे बन्दे आए जो स्वयं भी जागृत थे और जिन्होंने दूसरों को भी जगाया। लेकिन थोड़े-थोड़े अन्तराल से, जैसा कि बच्चों का स्वभाव है, इनसान में खिलौनों की दिलचस्पी लौट आती रही और इनसान की खोज अपना लक्ष्य बार-बार पाकर खोती रही।

यहाँ पहुँचकर कुछ लोगों को एक और संदेह भी हो सकता है। वह यह कि जो चीज़ इनसान की प्रकृति के अनुकूल है, चाहिए कि वह उसी पर पैदा हो, उसी पर बढ़े और उसी पर मरे। यह बार-बार पाकर खोना और बार-बार खोकर पाना क्या अर्थ रखता है! कम से कम यह तो हो कि अधिक खोजों के बाद जब पा जाए तो फिर उसे न खो सके।

यह संदेह केवल इस कारण पैदा होता है कि लोग पशुओं की सहज प्रवृत्ति और इनसान के नैसर्गिक गुण के अन्तर को नहीं समझते। पशुओं की सहज प्रवृत्ति अपने सुनिश्चित नियम रखती है। यदि कोई प्राकृतिक विघ्न न पैदा हो तो उन्हीं नियमों पर उभरती, विकसित होती और अपनी निश्चित पूर्णता के बिन्दु को प्राप्त करती है। प्रकृति ने उनको इसकी अवहेलना करने, इसको बदल देने या इसमें किसी प्रकार की अभिवृद्धि करने की कोई गुंजाइश नहीं रखी है। वे अपने ढर्रे के पाबन्द और अपनी प्राकृतिक व्यवस्था में जकड़े हुए हैं। एक कबूतर को आप गोश्त की दुकान में बन्द कर दें तो वह वहाँ भूखा मर जाएगा, लेकिन गोश्त के ढेर से लाभ न उठा सकेगा। एक बिल्ली को यदि आप फलों की आलमारी में बन्द कर दें तो वह भी वहाँ भूखी मर जाएगी, लेकिन फलों के ढेर से कोई लाभ न उठा सकेगी। लेकिन इनसान की प्रकृति इससे सर्वथा भिन्न है। यहाँ हम इनसानी प्रकृति के विशिष्ट प्रकार के गुण को स्पष्ट करने के लिए मौलाना हमीदुद्दीन फ़राही (रह०) के शब्द उद्धृत करते हैं जो उन्होंने कुरआन की सूरा-112 (इखलास) के भाष्य में उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में और सूरा-30 (रूम) की 48 से 54 आयतों के अन्तर्गत लिखे हैं। मौलाना लिखते हैं—

“तत्त्वदर्शिता और दया की निशानियाँ, जो इनसान को सम्पूर्ण जगत् में नज़र आ रही हैं और अपने रब की ओर आकर्षण, जिसे वह मुसीबत के समय अनुभव करता है, बता रही हैं कि किसी सर्वव्यापक शासक हस्ती के लिए उसे अपने अन्दर और बाहर से गवाही मिल रही है। ऐसी कोई गवाही मूर्तियों या मृतकों के लिए नहीं मिलती। किन्तु इनसान की प्रकृति अन्य जन्तुओं की तरह नहीं। वे दास बनाए गए हैं और इनसान को स्वतंत्रता प्रदान की गई है जिसके लिए अनिवार्य था कि वे अपने प्रयत्न से उन्नति करें। अतः पशुओं को जिस डगर पर चलाना था, हाँक दिया और वे ऐसे ही

चल रहे हैं। किन्तु इनसान को बुद्धि रूपी प्रदीप और योग्यता-सामग्री देकर संसार के मैदान में छोड़ दिया। अतः उसकी प्रकृति में उसकी यह योग्यता सम्मिलित है। इनसान ने जितनी भी उन्नति आज तक की है ये सब उसकी योग्यता ही के लक्षण हैं और उसकी योग्यता ही की पत्तियाँ और फल हैं। यह बात कि योग्यता का नाम स्वभाव है कुछ इनसान के साथ विशेष नहीं। मोर का बच्चा, जो प्रारंभ में गोशत का लोथड़ा-सा होता है, जब जवान होता है तो उसके पंख की गुलकारी को हम प्रकृति ही की देन समझते हैं। इसी तरह इनसान का बच्चा, जो बहुत-से प्राणियों की अपेक्षाकृत अधिक दुर्बल शरीर का होता है और इससे बढ़कर कमजोर बुद्धि का होता है, जब अपनी जवानी को पहुँचता है तो क्या उसकी बुद्धिमत्ता और शक्ति को हम उसकी उच्च प्रकृति का परिणाम न समझें। अतः इनसान और अन्य वस्तुओं में प्रकृति का एक ही अर्थ है, किन्तु इनसान की प्रकृति में एक भिन्न बात पाई जाती है जो औरों में नहीं पाई जाती। यह आरंभ में बहुत कमजोर और नगण्य होता है, मगर आगे चलकर सबसे उत्कृष्ट हो जाता है। उसकी शक्ति की थाह अब तक नहीं मिली। मगर यह सब दो निर्बलताओं के बीच पाया जाता है। यदि ऐसा न होता तो इनसान का फिरऔनी दावा (मैं ही प्रभु हूँ) भी अनुचित न होता। अतः मात्र इसी बात से कि इनसान की प्रकृति उन्नति की सर्वोच्च सोपान को पार करती है, यह बात समझ में आने की है कि वह बहुधा गलत रास्ते पर पड़ जाए। अतः मत निर्धारित करने की स्वतंत्रता और लम्बा सफ़र उसके हिस्से में आया है। इन दो कठिनाइयों के साथ एक तीसरी कठिनाई भी लग गई है, जो इन दोनों से कभी अलग हो ही नहीं सकती। अर्थात् इनसान नेकी और बदी के दोराहे पर खड़ा किया गया, जिसके बिना उसके लिए 'स्वतन्त्रता' शब्द निरर्थक होता और पदोन्नति के लिए अपेक्षित समय कम पड़ जाता। अतः प्रयास और आकर्षण इनसान की प्रकृति का अनिवार्य अंग हुआ और नेकी तथा बदी के संघर्ष में आगे बढ़ना और बुराई पर उकसानेवाले मन और भटकनेवाली बुद्धि को आज्ञाकारिता पर लाना उसका कर्तव्य हुआ।”

“इनसान को ईश्वर ने इन कठिनाइयों में डालकर उसकी मदद करने का वादा किया है। उसके अन्दर और बाहर मार्गदर्शन की सामग्री जुटा दी। जिस प्रकार निर्बल बच्चे के लिए माँ की गोद की व्यवस्था की उसी तरह मानव-जाति के लिए पैगम्बरों को भेजा। जो ईश्वर निर्जीव भूमि को वर्षा से

सिंचित करता है वही ईश्वर अपनी वाणी से दिलों को आबाद करता है। जिस तरह वह कुछ ऊँचे पहाड़ों में से प्राकृतिक स्रोत निकालता है, उसी तरह कुछ उच्च प्रकार के हृदयों में ईश्वरीय वाक्य प्रवाहित करता है। अतः इतनी सामग्री जुटा देने के बाद यदि इनसान ईश्वर से विमुख हो तो यह स्वभाविक परिणाम नहीं, बल्कि उसकी गफलत है। यदि इतिहास में मूर्तिपूजा के उदाहरण मिलते हैं तो उससे कहीं ज्यादा प्रबल उसके खंडन की मिसालें मिलती हैं। तौहीद पर शिर्क की धूल धीरे-धीरे जमती रहे किन्तु तौहीद की थोड़ी-सी चमक शिर्क के अंधकार पर हावी हो जाती है, जिससे स्पष्टतः यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव प्रकृति और तौहीद के मध्य अनुकूलता है अन्यथा वह क्यों इस ओर तेजी से दौड़ता है, औरा दूसरी ओर धीरे-धीरे खिसकता है।”

इस वार्त्ता से स्पष्ट हो गया कि इनसान की प्रकृति और जानवरों की प्रकृति में कुछ आधारभूत अन्तर पाए जाते हैं —

पहला अन्तर यह है कि इनसान को उच्च प्रकृति और उच्च सृजन के साथ आज़ादी भी मिली है। इस आज़ादी के कारण यदि वह चाहे तो सर्वश्रेष्ठ संरचित प्राणी होने के बावजूद निम्नतम कोटि के गढ़े में गिर जाए।

दूसरा अन्तर यह है कि इनसान की शक्तियाँ और क्षमताएँ अथाह हैं। उसको प्रगति की एक लम्बी मंज़िल तय करनी पड़ती है। पशुओं की तरह उसका मार्ग दो-चार किलोमीटर का नहीं है कि चले और पहुँच जाए। इस मार्ग-दीर्घता और मार्गचयन की स्वतंत्रता के साथ उसका गिरना और उठना, डूबना और उछलना बिलकुल स्वाभाविक है।

तीसरा अन्तर यह है कि विचार की स्वतंत्रता और मंज़िल की अत्यंत दूरी के साथ-साथ उसकी परीक्षा भी ली गई है। उसके सामने दुनिया को नक़द, आखिरत को विस्मृत वस्तु, नेकी को कठिन और बदी को आसान, हराम को रुचिकर और बहुतायत, तथा हलाल को अरुचिकर और थोड़ा, सत्य के फल और परिणाम को विलम्ब से प्राप्त होनेवाला और असत्य के परिणाम को शीघ्र सामने आनेवाला, वास्तविकता को छिपा हुआ और भ्रम व धोखे को मनमोहक और सुन्दर बनाकर रख दिया गया है, ताकि उसकी परीक्षा हो कि वह नेकी की ओर लपकता है या बुराई की ओर। अपनी प्रकृति

के छिपे हुए, किन्तु वास्तविकता से परिपूर्ण संकेतों की ओर बढ़ता है या मन के प्रकृति विरुद्ध, किन्तु छलपूर्ण बुलावे की ओर। निस्संदेह यह परीक्षा बहुत कठिन है, लेकिन टोकनेवाली अन्तरत्मा भी निर्बल नहीं है। वह घोरतम अन्धकार में झाँकने का मार्ग बना लेती है और इनसान के पथप्रदर्शन के लिए संकेत करती है और आदमी मूर्तिमान कितने ही पर्दे अपने ऊपर डाल ले, लेकिन वह उसके इशारे देखती है और उसकी आवाज़ें सुनती है, यद्यपि उसकी आवाज़ें सुनते हुए भी मनुष्य उसकी उपेक्षा करता है और उसके तर्कों को देखते हुए अपने लिए बहाने खोज लेता है। यही हकीकत है जो कुरआन की सूरा क्रियामह की आयतों में बयान हुई है—

“....नहीं मैं क्रसम खाता हूँ मलामत करनेवाली आत्मा की।”

—कुरआन, 75:2

“....इनसान चाहता है कि खुदा के सामने अवज्ञा करे।”

—कुरआन, 75:5

“.... मनुष्य स्वयं अपने हाल पर निगाह रखता है, भले ही वह कितने ही बहाने प्रस्तुत करे।”

—कुरआन, 75:14-15

इस कठिन परीक्षा को अपेक्षित हुआ कि ईश्वर ने इनसान के पथ-प्रदर्शन के लिए नबी भेजे। प्रकृति का आकर्षण किसी प्रकार भी ईश्वर की ओर निर्बल न था, लेकिन दुनियाँ और उसकी गहराइयाँ, मन और उसके धोखे, शैतान और उसके मनमोहक जाल में इतना वजन था कि उसे देखते हुए ईश्वरीय अनुकम्पा ने आवश्यक समझा कि इसका तोड़ करे और इसके लिए प्रकृति के पलड़े का वजन बढ़ा दे। अतएव कुरआन मजीद में वर्णित है कि जब ईश्वर ने आदम को शैतान के साथ इस परीक्षा-स्थल पर उतारा तो साथ ही अपनी हिदायतों और अपने नबी भेजने का वादा भी किया—

“मेरी ओर से जो कोई मार्गदर्शन तुम्हारे पास पहुँचे.....”

—कुरआन, 2:38

ताकि इस मुक्काबले के मैदान में इनसान की प्रकृति अकेली न पड़ जाए, बल्कि उसके साथ ईश्वर के नबियों, उसकी कितबों और उसके फ़रिश्तों

की सहायता भी हो। यह प्रकृति के समर्थन में एक अतिरिक्त मदद प्रदान की गई, ताकि इनसान यह न कह सके कि खुदा की ओर से हमें हमारे मार्गदर्शन का उचित प्रबन्ध नहीं किया गया। इसके बाद उसकी हिदायत का मामला संयोग एवं संभावना पर नहीं रह गया। अब उसके लिए क्रियामत के दिन यह विवशता व्यक्त करने का अवसर न रहा कि अंधकार इतना था कि जिसके कारण वह अपनी प्रकृति की धूमिल रेखाएँ पढ़ न सका। निस्संदेह अंधकार घोर था, लेकिन स्पष्ट प्रकाश और चमकता प्रदीप भी मौजूद था, जो प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म चिह्नों को उजागर कर रहे थे।

प्रकृति किसी गोशे में भी अपने उदार दान की दृष्टि से कृपण और कंजूस नहीं है। यह संभव था कि इनसान को सुनने के लिए एक ही कान दिया जाता या देखने के लिए उसे एक ही आँख मिलती, लेकिन कुदरत ने दो कान दिए और दो आँखें भी दीं। इसी प्रकार यह भी संभव था कि इनसान का पथप्रदर्शन उसकी प्रकृति पर ही छोड़ दिया जाता, लेकिन ईश्वरीय अनुकम्पा ने इस मामले को संभावना और संयोग के हवाले नहीं किया, बल्कि अपने नबियों और रसूलों के द्वारा संमार्ग पाने का अच्छे से अच्छा साधन जुटा दिया। अन्दर और बाहर की इतनी क्षमताएँ रखने के बावजूद यदि इनसान खुदापरस्ती के पक्ष में शैतान से लड़ने के लिए तैयार न हुआ, बल्कि उसके साथ उसने अपना सामंजस्य बनाए रखा तो स्पष्ट है कि यह प्रकृति की खराबी नहीं है, बल्कि इसके अन्य कारण हैं, इनशा अल्लाह (अगर खुदा ने चाहा) विस्तारपूर्वक अगले अध्याय में उनका वर्णन होगा।

इस वार्ता के बाद अब इस बात के खण्डन की आवश्यकता नहीं रही कि सभी धर्मों का मूल एक है। ऊपर के विवेचन से यह हकीकत अच्छी तरह स्पष्ट हो चुकी है कि इस्लाम और दूसरे आसमानी धर्मों का प्रारंभिक बिन्दु भय की प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि ईश-प्रेम का भाव है और शिर्क और मूर्तिपूजा का आधार पूर्णतः एक दूसरी ही वस्तु है जिसका विस्तृत वर्णन आगे किया जाएगा। अतः इस्लाम (समस्त सच्चे धर्मों का असली नाम इस्लाम ही है और यही सृष्टि के आरंभ से ईश्वर का असली धर्म है) और शिर्क व मूर्तिपूजा में मूल और अमूल का अन्तर है और तौहीद व शिर्क का स्वाभाविक सम्बन्ध

सुलह व शान्ति का नहीं, बल्कि घृणा और शत्रुता का है। एक प्रकृति का विकास है, दूसरा प्रकृति की उल्टी गति। दोनों की यात्रा की दिशा और मंज़िल भिन्न हैं। इनमें उदारता और सुलह की कोई गुंजाइश नहीं है।

दुनिया में इनसान मात्र जीने नहीं आया है। वह यहाँ इस लिए आया है कि उसमें नैसर्गिक रूप से जो उच्च क्षमताएँ निहित हैं उनको विकास के पूर्णता के बिन्दु तक पहुँचा दे जहाँ तक वे भौतिक संसार में रहते हुए पहुँच सकती हैं। इसी उद्देश्य के लिए इनसान को दुनिया में जीने का एक अवसर मिला है। यदि यह उद्देश्य पूरा न हो रहा हो तो उसका जीवन व्यर्थ और उसका जीवित रहना निरर्थक है, और कुदरत, जो प्रत्येक क्षेत्र में इतनी तत्त्वदर्शी सिद्ध हुई है वह कोई व्यर्थ कार्य नहीं कर सकती। इनसान के आध्यात्मिक विकास का आरम्भ-बिन्दु, जैसा कि ऊपर ज्ञात हो चुका है, शुद्ध खुदापरस्ती की भावना है। जब इनसान आध्यात्मिक विकास के विपरीत दिशा में बढ़ चलता है तो वास्तव में वह प्राकृतिक विकास के विरुद्ध गति करता है। क्योंकि कुदरत अत्यन्त दयावान है इसलिए उसने नैसर्गिक मार्गदर्शन प्रदान करने के साथ-साथ इसका भी प्रबन्ध किया है कि वह अपने नबी और रसूल भेजती रही, जो इनसानों को उनके विकास की सही दिशा में ले जाते रहे हैं अर्थात् उनको विशुद्ध खुदा-परस्ती के बिन्दु तक लाने की कोशिश करते रहे हैं।

नबियों के सम्बन्ध में ईश्वर का कानून यह है कि वे जिस जमाअत के आमंत्रणदाता होते हैं, उस जमाअत के प्राकृतिक वृक्ष के उत्कृष्ट फल होते हैं। वे सर्वोत्तम चरित्र रखते हैं, सर्वोत्तम वाणी सुनाते हैं, सर्वोत्तम व्यवहार दिखाते हैं और एक लम्बी अवधि तक उच्चतम प्रकृति का श्रेष्ठतम प्रदर्शन करते हैं, यहाँ तक कि एक उत्तम गिरोह तैयार कर देते हैं, जो प्राकृतिक विकास के असली राजमार्ग पर आगे बढ़ना फिर शुरू कर देता है। अब इसके बाद भी यदि कुछ मंदबुद्धि इनसान ऐसे हैं जिनके कान प्रकृति की पुकार और नबियों के आहवान की ओर से बिलकुल बेखबर हैं तो उनको प्रकृति किस काम के लिए शेष रखे! इनसान बनाकर मात्र जीने, खाने-पीने और बच्चे पैदा करने के लिए उनको रख छोड़ा है तो बिलकुल व्यर्थ है। इसके लिए तो जानवर

इनसान की सेवा करके अपना कर्तव्य निभा ही रहे हैं। मानव के मार्गदर्शन के लिए जो यत्न किए जा सकते थे वे किए जा चुके, अब केवल यह बात शेष रह गई है कि ईश्वर अपनी सर्वोच्च शक्ति से या तो सत्य पर पड़े हुए सारे पर्दे उठा दे और उन्हें सम्पूर्ण परोक्ष जगत् की सैर करा दे या मार्गदर्शन स्वीकार करने पर उसे विवश कर दे। किन्तु इस प्रकार का सम्मान और परोक्ष का निरावरण करना उस आजादी और उस परीक्षा के कानून के विरुद्ध है जिसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं।

इस विस्तृत विवरण से यह बात स्पष्ट हो गई कि मज़हब का आरंभ प्रेम की भावना से हुआ है, जो बच्चे की प्रकृति में माता-पिता के लिए और प्रौढ़ लोगों की प्रकृति में माता-पिता से बढ़कर अपने वास्तविक उपकारकर्ता ईश्वर के प्रति पैदा हुई। इस प्रेम से वास्तविक उपकारकर्ता के प्रति कृतज्ञता एवं स्तुति की और माता-पिता के प्रति सद्व्यवहार की भावना पैदा हुई। वास्तविक उपकारकर्ता की प्रशंसा की भावना ने ईश्वर की इबादत की धारणा पैदा की, जिसने नमाज़ का रूप धारण किया और माता-पिता के साथ सद्व्यवहार की भावना ने उनकी सेवा और उनपर माल खर्च करने की भावना पैदा की, जिसने उन्नति करके रिश्तेदारों पर खर्च और ज़कात का रूप ले लिया। इस प्रकार मानव-आत्मा के विकास का आरंभ शुरू हुआ। ईश्वर के हकों को अदा करने की धारणा ने सभी धारणाओं और इबादतों को प्रशस्त किया और बन्दों के हक़ को अदा करने की धारणा ने सम्पूर्ण सदाचार और व्यवहार को सुदृढ़ किया। यह प्रकृति और खुदा-परस्ती की सीधी राह है। यही आत्म-विकास का वास्तविक राजमार्ग है। इसके एक छोर पर हमारे पितामह आदम (अलै०) हैं और दूसरे छोर पर अन्तिम नबी मुहम्मद (सल्ल०) हैं और इसके बीच में मध्यमार्ग पर खुदा के हज़ारों-लाखों नबी, रसूल और सत्य की ओर बुलानेवाले, थोड़ी-थोड़ी दूरी पर खड़े हैं। उन्होंने अपने-अपने समय में इसी मार्ग पर चलने का निमंत्रण दिया, लेकिन इनसान इस मार्ग पर आकर बार-बार हटता रहा और धरती में सुधार के बाद उसमें बिगाड़ पैदा करता रहा। इसी लिए प्रत्येक नबी को यह कहना पड़ा कि —

“धरती में सुधार के बाद उसमें बिगाड़ पैदा न करो।” —कुरआन, 7:85

8. अनेकेश्वरवाद का वास्तविक कारण

पिछले अध्याय में यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से बयान हो चुकी है कि इनसान की प्रकृति में एक वास्तविक दाता का प्रेम और उसके प्रति कृतज्ञता और उसकी प्रशंसा की भावना सर्वाधिक प्राचीन और सर्वाधिक दृढ़ है। अतएव इसी आधार पर कुरआन का दावा है कि ईश्वर ने आदम की समस्त संतान से अपने प्रभु और पालनकर्ता होने का वचन लिया है और प्रत्येक आदम की संतान ने 'हाँ, तू ही मेरा रब है', कहकर इस प्रतिज्ञा में भाग लिया है—

“...याद करो वह समय जबकि तुम्हारे प्रभु ने आदम की संतान से (अर्थात् उनकी पीढ़ों से) उनकी सन्तति को निकाला और स्वयं उनके ऊपर उनको गवाह बनाते हुए पूछा था: क्या मैं तुम्हारा रब नहीं हूँ? उन्होंने कहा: अवश्य आप ही हमारे रब हैं, हम इसपर गवाही देते हैं। यह इसलिए किया कि तुम क्रियामत के दिन यह न कहो कि हम तो इस बात से बेखबर थे।”

— कुरआन, 7:172

कुछ लोग इसपर संदेह करते हैं कि क्या मालूम इस प्रकार की कोई प्रतिज्ञा हुई है या नहीं। हमें न तो इस 'क्या मैं तुम्हारा रब नहीं हूँ?' प्रश्न की कोई खबर है न यह याद कि हमने 'हाँ, तू ही मेरा रब है', कहकर किसी प्रतिज्ञा की ज़िम्मेदारी ली है। ये दोनों बातें प्रमाण चाहती हैं। विशेषतः जबकि इसका इतना महत्त्व है कि क्रियामत के दिन यह प्रतिज्ञा आदम की प्रत्येक संतान के प्रति प्रमाण बनेगी।

आश्चर्य है कि लोगों को क्या बात मालूम नहीं है? एक इनसान पानी की एक तुच्छ बूंद के रूप में माँ के पेट में पड़ता है। माँ पता नहीं कितनी कठिनाइयाँ झेलकर और कितने दुख उठाकर नौ महीने उसको पेट के अन्दर ही पालती है। अपने मांस और रक्त से उसका पालन-पोषण करती है। फिर जान की बाज़ी खेलकर एक मांस के लोथड़े के रूप में उसे जन्म देती है, फिर अपने शरीर के खून का एक-एक क़तरा दूध बनाकर उसको पिलाती है और वर्षों की कठिनाइयों के बाद उसको इस योग्य बनाती है कि वह धरती पर चल-फिर सके। इसके बाद बाप के त्याग, उसके प्रेम और सही देख-रेख

और शिक्षा-दीक्षा का समय आता है जो एक लम्बे समय तक जारी रहता है। इस अवधि में बाप जो कुछ अपने लिए चाहता है, उससे अधिक बच्चे के लिए चाहता है। वह खुद कम खाता है ताकि बच्चे को खिलाए, वह खुद कष्ट झेलता है ताकि बच्चे को आराम पहुँचाए, वह खुद अपनी जान जोखिम में डालता है ताकि बच्चा हर खतरे से सुरक्षित रहे। माता-पिता के प्रेम, स्नेह और प्राणोत्सर्ग का यह क्रम है जो एक बच्चे को पाल-पोसकर जवान बनाता है। यदि इसमें से एक कड़ी भी टूट जाए तो बच्चे का जीवन ही खतरे में पड़ जाए। अब मान लीजिए की बच्चा जवान हुआ और माता-पिता वृद्धावस्था को पहुँचे। अब ये असहाय हैं और वह शक्ति-सम्पन्न है। लेकिन पुत्र उनकी ओर कोई ध्यान नहीं देता और यदि कोई व्यक्ति उसको माता-पिता के अधिकारों और उनके प्रति पुत्र के कर्तव्यों को याद दिलाता है तो वह उत्तर देता है कि मुझे मालूम नहीं कि माता-पिता के कुछ अधिकार और उनके प्रति मेरे कुछ कर्तव्य भी हैं। मुझे इस प्रकार के किसी कर्तव्य या ज़िम्मेदारी की कोई जानकारी नहीं है, मैंने इस प्रकार के किसी अधिकार को स्वीकार नहीं किया है। तो क्या उसका यह उत्तर उचित होगा? प्रत्येक व्यक्ति ऐसे पुत्र को कमीना और दुष्ट कहेगा, क्योंकि वह एक ऐसे हक़ और एक ऐसी ज़िम्मेदारी का इनकार कर रहा है जिससे अधिक सिद्ध अधिकार और सर्वमान्य कर्तव्य कोई और नहीं है। यह दायित्व प्रत्येक हक़ के साथ लगा हुआ होता है। यह अलिखित लेख, बिना गवाही के सिद्ध और बिना माँग स्वीकृत है। यह हक़ और प्राधिकार (Privilege) और ज़िम्मेदारी (Responsibility) की वह प्राकृतिक-प्रतिज्ञा है, जिससे अधिक इन्सान पर किसी प्रतिज्ञा की पाबंदी लागू नहीं होती।

इसी आधार पर एक इन्सान उस स्त्री के लिए खान-पान और सतीत्व-रक्षा का अधिकार स्वीकार करता है जिससे वह फ़ायदा उठाता है। इसी आधार पर उस व्यक्ति पर कुटुम्ब और क़बीले की रक्षा और सहायता के कर्तव्य लागू होते हैं। इसी आधार पर एक नगर की नगरपालिका अपने नागरिकों की कमाई में भागीदार बनती है। इसी आधार पर एक राज्य अपनी प्रजा से माँग करता है कि वे अपनी योग्यता व ज्ञान, अपने समय व स्वतन्त्रता और अपनी जान व सम्पत्ति में उसे भागीदार बनाए। और यदि राज्य का

अस्तित्व खतरे में पड़ जाए तो प्रजा उसकी रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दे।

अब मान लीजिए एक व्यक्ति एक स्त्री के शील का स्वामी तो बन बैठा लेकिन उसके भरण-पोषण और खर्च की ज़िम्मेदारी, उसके अधिकारों और उसके प्रति अपने कर्तव्यों से इनकार करता है और कहता है कि मैंने इस प्रकार की कोई प्रतिज्ञा नहीं की है। या एक नागरिक नगरपालिका की सड़कों पर चलता तो है, उसकी स्वास्थ्य-रक्षा की व्यवस्था से लाभ तो उठाता है, उसके पार्कों और बाग़ों से लाभान्वित तो होता है, उसकी विद्युत-व्यवस्था से प्रकाश प्राप्त तो करता है, उसके स्थापित किए हुए स्कूलों से लाभान्वित तो होता है, लेकिन जब उसकी माँगों का समय आए तो कह दे कि मैं इस प्रकार की कोई ज़िम्मेदारी स्वीकार नहीं करता। या इसी प्रकार एक व्यक्ति एक राज्य के अन्दर नागरिकता के सभी अधिकारों से लाभान्वित हो रहा है, उसकी शान्ति और न्याय-व्यवस्था से लाभ उठा रहा है, उसके क़ानून और व्यवस्था के अंतर्गत वह एक संपत्ति का मालिक, एक बेटे का बाप, एक पत्नी का पति, एक राज्य का नागरिक तो बना हुआ है, लेकिन जब राज्य की माँगों का समय आए तो वह जवाब दे दे कि मैं इस माँग के उत्तरदायित्व से मुक्त हूँ, मैंने इस प्रकार का बोझ उठाने और इस प्रकार के दायित्व निर्वाह का कभी वचन नहीं दिया था, तो क्या उसके इस उत्तर को उचित कहा जा सकता है?

पत्नी कहेगी यह अस्वीकृति ग़लत है, जिस दिन तूने मेरे सतीत्व का स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग किया और मैंने अपना शरीर तुझे सौंपा उसी दिन तू इन सभी ज़िम्मेदारियों के प्रति अप्रत्यक्षतः दृढ़ वचनबद्ध हुआ था, और सारी दुनिया पत्नी को सत्य पर तथा उस पति को नीच और कमीना ठहराएगी। यही उत्तर एक क़ज़ीला अपने कायर और कर्तव्य से अनभिज्ञ व्यक्ति को देगा। यही जवाब एक नगरपालिका अपने कर न चुकानेवाले नागरिक को और राज्य अपने नमकहराम निवासी को देगा, और पूरा संसार इस उत्तर को तर्कयुक्त, और ऐसे नीच व्यक्तियों के लिए हर दण्ड को पूर्णतः अनिवार्य बताएगा, क्योंकि प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य की अनिवार्यता इतनी

स्पष्ट है कि आकाश का सूर्य भी इतना स्पष्ट नहीं है।

इसी अधिकार और दायित्व के स्वाभाविक और व्यापक कानून के आधार पर हमारे घर की पाली हुई मुर्गी, हमारे खूँटे से बंधी हुई गाय और घोड़े, हमारी वाटिका में लगे हुए पौधे, हमारे बाग में उगे हुए वृक्षों के हमपर हक हैं और हम अत्यन्त दुराचारी ठहरेंगे, यदि उनके हकों को स्वीकार करने से इनकार कर दें। जिस मुर्गी के अण्डे और चूजे को हम खाते हैं, अनिवार्य है कि बिल्लियों और कुत्तों से उसकी रक्षा करें। हम जिस गाय का दूध पीते हैं और जिस घोड़े पर सवारी करते हैं, हमारी जिम्मेदारी है कि हम उनके दाने-चारे का प्रबन्ध करें। हम जिस पौधे के फूल से सुगन्ध लेकर आनन्दित होते हैं और जिस वृक्ष के फलों का स्वाद लेते हैं, हमपर वाजिब है कि उनको सींचें, उनको गोड़े और खाद दें और सर्दियों के संकटों और लू की चपेट से उनको बचाएँ। हम उनके हक का इनकार नहीं कर सकते। हमने जिस दिन उनके अस्तित्व से किसी प्रकार का आनन्द व आराम प्राप्त किया उसी दिन उनके हकों का इक़रार कर लिया। यह हक और जिम्मेदारी की प्रतिज्ञा है जो प्रत्येक फ़ायदा पहुँचानेवाली चीज़ों और फ़ायदा उठानेवालों के बीच स्वतः घटित हो जाती है और मानव की प्रकृति और संसार की परिचित चीज़ों में इससे अधिक कोई चीज़ महत्वपूर्ण और सम्मान योग्य नहीं है।

अब विचार कीजिए कि जब हमें माता-पिता के हकों के इनकार का हक नहीं है तो उनसे कहीं बढ़कर उस ईश्वर का हक है जिसने माता-पिता को पैदा किया है। जब हमारे लिए पत्नी के अधिकारों से इनकार की गुंजाइश नहीं है तो उसके हक से कैसे इनकार संभव है जिसने पुरुष की शांति के लिए स्त्री पैदा की। जब हम परिवार, गोत्र, शासक और राज्य के प्रति अपना दायित्व स्वीकार करते हैं, तो जो परिवार और गोत्र को अस्तित्व में लाया, जिसने राज्य की व्यवस्था के लिए इन्सान की प्रकृति में पक्ष लेने की भावना और सामाजिकता से लगाव पैदा किया इनसे कहीं बढ़कर वह ईश्वर इस बात का हकदार है कि हम उसके प्रभु-पालनकर्ता होने का इक़रार करें। जब हम मुर्गी और बिल्ली तक का हक मानते हैं, गाय, घोड़े तक के अधिकार और कर्तव्य की एक मौन प्रतिज्ञा को स्वीकार करते हैं तो भला उसके प्रति

प्रतिज्ञा से हमें क्यों इनकार हो, जिसने गाय और घोड़े, वन और वाटिका, नदी और पर्वत, सूरज और चाँद, हवा और पानी, आग और मिट्टी सबको अस्तित्व प्रदान किया और सबको हमारे अस्तित्व को कायम रखने के लिए सहायक और लाभप्रद बनाया।

अतः यह बात तो बिलकुल गलत है कि इनसान को ईश्वर से की हुई अपनी प्रतिज्ञा का ज्ञान नहीं है। किन्तु यह अवश्य है कि इस प्रतिज्ञा का निर्वाह किसी तुच्छ इच्छाओं के दास का काम नहीं। हम पिछले अध्याय में वर्णन कर चुके हैं कि ईश्वर ने अपनी मुहब्बत और अपने को पाने की भावना इनसान के अन्दर रखकर अपने मार्ग में भय और लोभ, इच्छा और डर की बहुत-सी घाटियाँ पैदा कर दी हैं ताकि उसके इरादे और आज्ञादी की परीक्षा हो और प्रत्येक व्यक्ति अपने साहस और योग्यता के अनुसार ईश्वर के यहाँ दर्जा और आदर प्राप्त कर सके। यही घाटियाँ हैं जो एक सत्य के इच्छुक और एक तुच्छ इच्छाओं में ग्रस्त व्यक्ति के मध्य अंतर की कसौटी हैं। जो साहसी होते हैं वे तो हर ऊँच-नीच और हर आसानी व कठिनाई को पार करते हुए ईश्वर तक पहुँचकर ही दम लेते हैं। न उन्हें राह के किसी खतरे की परवाह होती है और न वे किसी लोभ की ओर ध्यान देते हैं। वे अपनी प्रकृति के घंटे की आवाज़ बराबर सुनते रहते हैं और उसका आकर्षण उन्हें इतनी फुर्सत ही नहीं देता कि वे तलवे के छालों की जलन और काँटों की चुभन पर ध्यान दे सकें। लेकिन जो हतोत्साही और नीच प्रवृत्ति के होते हैं वे इन घाटियों में से किसी घाटी के पास हिम्मत हारकर बैठ जाते हैं। बस यही गिरावट और साहसहीनता है जो वास्तव में ईश्वर से हटकर दूसरे की बन्दगी और बहुदेववाद का मूल कारण है। इनसान अपने दर्जे और पद की उच्चता का ध्यान नहीं रखता और जहाँ कोई घनी छाँव या कोई खतरा देखता है, वहीं कमर खोलकर बैठ जाता है। यह गिरावट और साहसहीनता जिन विभिन्न रूपों में व्यक्त हुई है और इसने इनसान को जिस-जिस तरह ईश्वर से हटाकर दूसरों की उपासना में ग्रस्त किया है उसके विवरण का तो यहाँ अवसर नहीं है, लेकिन ज़ेहन में उसकी कल्पना पैदा करने के लिए कुछ आवश्यक बातें हम यहाँ और करेंगे।

सबसे पहले इस बात पर विचार कीजिए कि इनसान को ईश्वर ने उसके अस्तित्व में एक छोटी-सी बादशाही प्रदान की है। उसके अस्तित्व की संरचना इस प्रकार की है कि उसको उत्तम योग्यताओं और उत्तम शक्तियों से सुसज्जित किया। उसको खाने-पीने, ओढ़ने-पहनने, बीबी-बच्चे और घर-गृहस्थी की इच्छाएँ दीं, ताकि इन इच्छाओं की प्रेरणा से वह अपनी सुरक्षा और अपनी जाति की सुरक्षा की क्षमताओं से काम ले सके। उसको बुद्धि प्रदान की जो भले-बुरे में अन्तर करनेवाली है। दिल प्रदान किया जो उच्च इरादों का भण्डार है। आत्मा प्रदान की जिसमें ईश्वर की चाह और खोज की प्रवृत्ति निहित की और इन सब पर उसको अधिकार प्रदान किया कि वह इन सब पर शासन करे और इनको अपने रब की इच्छा के मार्ग में प्रयोग करके ईश्वर के यहाँ उच्च स्थान प्राप्त करे। लेकिन उसने देखा कि उसको जितनी भी चीजें मिली हैं उनमें ऐहिक इच्छाएँ ऐसी हैं जिनमें सबसे अधिक स्वाद पाया जाता है। उनका स्वाद तत्क्षण मिलनेवाला और लाभ शीघ्र प्राप्त होनेवाला है। अतः वह इनपर इतना मुग्ध हुआ कि उसने अपनी सारी सल्तनत इनके हवाले कर दी। उसने अपनी पाँचों इन्द्रियों को आदेश दे दिया कि वे इच्छाओं का पालन करें और जो कुछ इन्हें अपेक्षित है, केवल उसी की खोज में अपने आपको कार्यरत रखें। उसने बुद्धि की अदालत निलम्बित कर दी, ताकि इन इच्छाओं के विरुद्ध कोई अपील न हो सके। उसने दिल को भी इन्हीं इच्छाओं के अधिकार में दे दिया। परिणाम यह हुआ कि वह पेट और कामेन्द्रियों का दास बनकर रह गया और उसकी उपमा ठीक उस बादशाह से दी जा सकती है जो अपनी किसी दासी पर इतना आसक्त हो जाए कि स्वयं अपने आपको और अपने पूरे राज्य को उसे सौंप दे फिर वह जो चाहे आदेश दे और जिस चीज़ से चाहे रोके और उसके राज्य के सभी गणमान्य व्यक्ति और विद्वान और राज्य के समस्त प्रबन्धकर्ता और सल्तनत के अंग (कार्यकर्ता) उस दासी के दास बनकर रह जाएँ। यह कुरआन के शब्दों में ऐसी दशा हुई—

“क्या वह जिसने अपनी इच्छाओं को पूज्य बना रखा है?”

(कुरआन, 25:43)

और स्पष्ट है कि यह इनसान की वास्तविक प्रकृति नहीं, बल्कि उसकी

गिरावट का परिणाम है।

इसी प्रकार खुदा ने माता-पिता बनाए, बीवी बच्चे प्रदान किए, सगे सम्बन्धी दिए, परिवार व कुटुम्ब और कबीला व जाति को संगठित किया, माल व जायदाद दी, पशुओं के रेवड़ दिए ताकि इनसान उनमें और उनके द्वारा अपनी उन नागरिक और सामूहिक क्षमताओं को क्रियान्वित करे जो उसके अन्दर निहित हैं और उस उच्चतम नागरिकता की संरचना करे जिसके वह इसलिए योग्य है कि ईश्वर ने उसे शासनाधिकार दिया। लेकिन इनसान ने उन सारे साधनों ही को साध्य अर्थात् मूल उद्देश्य बना लिया। वह माता-पिता के प्रेम में ऐसा लीन हुआ कि पितृपूजा की बुनियाद डाल दी। बीवी-बच्चों के प्रेम में ऐसा ग्रस्त हुआ कि उनके लिए ईश्वर और उसके आदेशों को भूल गया। कुटुम्ब और खानदान, कबीला और क्रौम के पक्ष में ऐसा फँसा कि इनके लिए खुदा और उसके पैगम्बरों से बगावत कर बैठा। यहाँ तक कि इस प्रेम में इतनी अतिशयोक्ति अपनाई कि उसने पितृपूजा और कबायली देवताओं की पूजा शुरू कर दी। वह माल और दौलत की मुहब्बत में ऐसा पड़ा कि इन्हीं का पुजारी बन गया। यहाँ तक कि जिन पशुओं को उसने लाभकारी पाया उनको भी उसने देवता बना लिया। गाय, बैल, हाथी, घोड़े आदि सब इसी तरह के देवता बन गए। ईश्वर ने जो चीजें इसे सवारी के लिए प्रदान की थीं उनकी सवारी वह स्वयं बन गया और जो चीजें रस्सी (कमंद) के रूप में प्रदान की थीं कि उन्हें ईश्वर तक पहुँचने का साधन बनाए, उन रस्सियों को उसने अपने पैरों और अपनी गर्दन में फन्दा बनाकर डाल लिया।

ईश्वर ने इनसान को लाभदायक अनगिनत ऐसी प्रिय वस्तुएँ प्रदान की हैं जो हमसे कोई माँग नहीं करतीं। बीवी-बच्चे हों या क्रौम-कबीले के लोग या घोड़े आदि। ये सब भी खुदा की दी हुई नेमतें हैं किन्तु इनके प्रति हमारी कुछ ज़िम्मेदारियाँ होती हैं और हम पर इनके कुछ हक भी होते हैं। लेकिन सूरज, चाँद, तारे, इन्द्रधनुष, बादल, हवा, अग्नि, जल, धरती, नदी, पहाड़, वायुमण्डल के पक्षी आदि। ये चीजें ईश्वर ने इसलिए प्रदान की थीं कि इनसान इनके अस्तित्व से लाभान्वित हो सके और इनके हक अदा करने की ज़िम्मेदारी से पूर्णतः चिन्तारहित होकर अपना समय केवल ईश-प्रसन्नता के

कामों में लगा सके। लेकिन हुआ यह कि इनसान ने जब देखा कि ये चीजें इतनी अधिक लाभकारी होते हुए भी उससे किसी बदले की माँग नहीं करती तो उनकी इस निःशुल्क लाभकारिता पर ऐसा रीझा कि इनमें से प्रत्येक प्रिय वस्तु को उसने उपकारकर्ता का दर्जा देकर उसी की उपासना आरंभ कर दी। इसकी मिसाल बिलकुल ऐसी है कि एक बादशाह अपने किसी निकटस्थ सभासद को बहुत-से दास-दासियाँ प्रदान करे और उनकी सारी ज़िम्मेदारियाँ भी अपने ऊपर ले ले ताकि वह निकटस्थ सभासद अपनी और अपने सेवकों की ज़िम्मेदारियों के बोझ से मुक्त रहकर अपना पूरा ध्यान केवल राज्य की महत्वपूर्ण समस्याओं पर लगा सके। लेकिन वह व्यक्ति इन दास-दासियों की मुफ्त सेवा पर इस तरह रीझ जाए कि इन्हीं को सब कुछ समझकर इन्हीं की बन्दगी और आज्ञापालन में लग जाए और बादशाह और उसके राज्य को सर्वथा भूल जाए।

इस तरह बहुतों पर ईश्वर ने अपने उपकारों की वर्षा की, उनको राज्य तथा धन-दौलत दी, सम्मान व श्रेष्ठता प्रदान की, सिंहासन व मुकुट प्रदान किया ताकि उनकी परीक्षा ले कि वे उसकी बन्दगी करते हैं या उससे विद्रोही होते हैं, धरती पर उसका क़ानून चलाते हैं या अपना क़ानून चलाते हैं। शांति और न्याय की स्थापना करते हैं या अन्याय और बिगाड़ फैलाते हैं। लेकिन उन्होंने यह समझकर कि ये सब कुछ उनकी पात्रता और योग्यता का फल है, घमण्ड किया और बन्दगी के स्थान पर खुदा बनाना शुरू कर दिया। कोई यह समझ बैठा कि हम खुदा के अवतार हैं, जैसे मिस्र के अवतार-बादशाह (God Kings) और हिन्दुस्तान के प्राचीन राजा-महाराजा स्वयं को देवता की हैसियत से अपनी प्रजा से पुजवाते थे। मुसलमान बादशाहों में अकबर को भी उसके अज्ञानी चापलूस दरबारियों ने इसी प्रकार के भ्रम में डाल दिया था। कोई स्वयं को आसमानी प्राणी समझने लगा, जैसे चीन व जापान के बादशाह स्वयं को मानव जाति से उच्चतर समझते थे। मिस्र पहुँचकर सिकन्दर भी इसी रोग में ग्रस्त हो गया था। इन सीमोल्लंघनकारियों की मिसाल ऐसी है जैसे कोई बादशाह अपने किसी दास को कुछ सेवक और लाव-लश्कर देकर अपने साम्राज्य के किसी क्षेत्र में प्रबन्ध करने के लिए नियुक्त करे और वह दास ये सब पाकर ऐसा घमण्डी हो जाए कि वहाँ पहुँचकर खुद अपनी

बादशाही का झण्डा गाड़ दे।

इसी प्रकार ईश्वर ने बहुतों को धन-दौलत कम दिया और इसका उद्देश्य उनके धैर्य और खुदा पर राजी होने की परीक्षा लेनी थी कि वह देखे कि ये लोग दुनिया के लोभ में फँसकर ईश्वर के बागियों ही को पूज्य बना लेते हैं या अपनी रूखी-सूखी रोटी पर संतुष्ट रहकर अपनी प्राकृतिक-प्रतिज्ञा पर जमे रहते हैं। किन्तु बहुत-से लोग इस परीक्षा में पूरे नहीं उतरे और खुदा के स्थान पर उसके विद्रोहियों के सामीप्य के इच्छुक हुए और उनके लिए बन्दगी और भक्ति-भाव की वे सभी रस्में अदा कीं जो विश्वस्वामी के अतिरिक्त किसी के लिए वैध नहीं हो सकतीं। उन लोगों ने खुदा के विद्रोहियों को उनके जीवन-काल में उपकारकर्ता प्रभु और अन्नदाता आदि कहा और मरने के बाद उनके मकबरे और मूर्ति-प्रतिमाएँ बनाईं।

ईश्वर ने अपने बहुत-से बन्दों पर आध्यात्मिक बरकतें अवतरित कीं। कुछ व्यक्तियों को अपना दूत व पैगम्बर बनाया। ईश्वर के इन विशुद्ध एकनिष्ठ बन्दों ने कभी लोगों को ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य की बन्दगी का आह्वान नहीं किया। किन्तु कुछ समय बीत जाने के बाद उनके ऐसे शिष्यों ने जो दुनिया के पुजारी हो गए थे और उनके प्रति उनके प्रेम का दावा मात्र झूठा था, अधिकांशतः अपने सांसारिक स्वार्थ के लिए उनको ईश्वर की पंक्ति में बैठा दिया। हज़रत ईसा (अलै०) और बहुत-से सन्त, ऋषि और औलिया इसी तरह ईश्वर के साझीदार बना दिए गए।

इसी तरह राजनीतिक और सामाजिक स्वार्थ भी ज्यादातर शिक और मूर्तिपूजा का कारण बने हैं। प्राचीन इतिहास के अध्ययन से मालूम होता है कि बहुत-सी जातियों ने दूसरी जातियों की मूर्तियाँ उनके साथ मात्र राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पूजीं। अधिकतर ऐसा भी हुआ कि विजेता जातियों ने विजित जातियों का दिल जीतने के लिए उनकी मूर्तियों को अपने पूजास्थलों में स्थान दे दिया। हिन्दुस्तान में अकबर ने इसी उद्देश्य से बहुत-से तुच्छ कृत्य किए। कुरैश ने काबा को सभी अरब-कबीलों के बुतों का एक बड़ा पूजा-गृह बना दिया, ताकि इस तरह तमाम अरब के कबीलों पर अपनी सरदारी को बाक़ी रख सकें। बनी इसराईल के इतिहास का अध्ययन करने से

ज्ञात होता है कि उन्होंने भी अनेकों बार इसी प्रकार के तुच्छ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आस-पास की मुशरिक क्रौमों की मूर्तियाँ पूजीं। यह तो उनके इतिहास की सामान्य बात है कि उन्होंने मुशरिक क्रौमों की स्त्रियों से विवाह किए और उनके साथ उनकी मूर्तियाँ और उनकी बहुदेववादी अवधारणाएँ और रस्में भी अपने घरों में लाए और फिर इन औरतों से जो सन्तानें उत्पन्न हुईं, अनिवार्यतः उनका भी शिर्क पर ही पोषण हुआ। मुसलमानों पर अंग्रेजों और पश्चिमी जातियों के प्रभुत्व और अनेकेश्वरवादियों के साथ रहने-सहने के कारण जो प्रभाव पड़े या पड़ रहे हैं और (यदि परिस्थितियाँ न बदलीं तो) पड़ेंगे, वह प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति के सामने हैं।

ये कुछ उदाहरण जो लोभ और लगाव के परिणामस्वरूप पैदा होनेवाले शिर्क के हैं। अब कुछ उदाहरण भय के भी लीजिए।

ईश्वर की सृष्टि में जो चीजें हानिकारक, खतरनाक और भयानक नज़र आईं, इनसान ने उनको खुदा की खुदाई में साड़ी बना लिया। इनसान अपने असंतुलन, अपनी गन्दगियों और अपने आलस्य के परिणामस्वरूप बीमारियों में डाला गया ताकि वह संभल सके और वह संतुलन, पवित्रता और सतर्कता के उस शिखर तक उन्नति करे जो उसके उत्तम ईश-रचना होने के कारण उसके लिए अपेक्षित है। लेकिन इनसान के मन पर संतुलन की पाबन्दियाँ, सफ़ाई की सावधानियाँ, सतर्कता और तत्परता के कार्य कठिन सिद्ध हुए। और ये सारे पापड़ बेलने के बजाए उसने सुविधा इसमें देखी कि वह इन रोगों के भीतर विभिन्न आत्माओं की कल्पना करके उनकी दुहाई देने लगा और उनको भेंट और बलि चढ़ाने लगा। इसकी मिसाल ठीक ऐसी है कि किसी व्यक्ति को किसी पत्थर से ठोकर लग जाए और वह बजाए इसके कि भविष्य में आँखें खोलकर चलने का प्रण करे और जल्दबाज़ी से बचे, ठोकर लगानेवाले रोड़े के पास एक पूजा-स्थल बनाकर बैठ जाए और उसके सामने दण्डवत करना शुरू कर दे। या एक व्यक्ति के कपड़े में जुएँ पड़ जाएँ और उसको सताने लगेँ तो नहाने और कपड़े धोने का कष्ट उठाने के बजाए उनके द्वारा मिलनेवाले कष्ट को दूर करने का यह उपाय करे कि प्रतिदिन प्रातः उनकी जय-जयकार करने लगे।

इसी तरह इनसान ने देखा कि साँप डसते हैं, बिच्छू डंक मारते हैं, शेर और भेड़िए फाड़ खाते हैं। इन चीजों को पैदा करने में ईश्वर की जहाँ बहुत-सी तत्त्वदर्शिता और हिकमतें हैं वहीं एक बड़ी हिकमत यह है कि ये इनसान को नागरिकता, सामाजिकता और स्वच्छता की उच्च योग्यताओं को काम में लाने के लिए प्रेरक का काम देती हैं। ये इनसान को मजबूर करती हैं कि वह झाड़-झंकाड़ को साफ़ करके मैदान बनाए, पहाड़ों को काट-छाँटकर धर बनाए, अकेले जीवन व्यतीत करने के बजाए सामाजिक जीवन और नागरिकता अपनाए और उनके अन्दर रक्षा और बचाव की जो क्षमताएँ छिपी हुई हैं उनको विकसित करे। हिंसक पशु और अजगर से भी मनुष्य को प्रेणा मिली कि वह खोहों और गुफाओं में रहनेवाली जाति बनकर न रहे बल्कि नागरिकता की जो छटाएँ आज दिखाई दे रही हैं उनका सृजक बने। लेकिन जिन इनसानों को ये सारे परिवर्तन असह्य मालूम हुए और जिस स्थिति में वे थे उसी में पड़ा रहना उन्होंने पसंद किया, उन्होंने सभ्यता और संस्कृति की ओर प्रगति करने के बजाए हिंसक पशुओं को देवता मानकर उनकी पूजा करनी शुरू कर दी कि इस प्रकार उन्हें राजी रखकर उनके खतरों से सुरक्षित रह सकेंगे। उनकी मिसाल बिलकुल ऐसी है कि कोई आलसी व्यक्ति किसी गन्दी जगह में घिर गया हो या किसी धुएँ से भरे मकान में बन्द हो गया हो और उसकी प्राणशक्ति और उसके श्वास का दबाव उसे मजबूर कर रहा हो कि वह बाहर किसी खुले मैदान में ताजा हवा में निकले। किन्तु उसका आलस्य इसमें बाधक हो रहा हो तो वह गन्दगी के ढेर या धुएँ ही की इबादत करनी शुरू कर दे कि ऐ गन्दगी की आत्मा और धुएँ के देवता! मुझपर दया करो! तुम्हारी दुहाई है।

इसी प्रकार प्रकृति ने, जो प्रत्येक क्षेत्र में अत्यन्त उदार और मेहरबान सिद्ध हुई है, कभी-कभी अपने न्याय और वैभव के पहलू को उजागर करने के लिए ज़मीन को हिला दिया, कभी पहाड़ों से आग बरसा दी, कभी हवाओं को तूफ़ान बना दिया, कभी आकाश से बिजलियाँ गिरा दीं, ताकि इनसान ईश्वर की अनुकम्पा से धोखा खाकर उसके न्याय को भूल न बैठे, बल्कि उसके प्रकोप और क्रोध को भी याद रखे कि यदि मानव उद्धण्ड हो जाए तो ईश्वर उन्हीं चीजों में से, जो उसे लाभ पहुँचाने में हर समय कार्यरत हैं, जिस चीज़ को चाहेगा उसके लिए उद्धण्ड बना देगा। लेकिन इनसान

बजाय इसके कि इन कोड़ों के डर से ईश्वर की ओर दौड़ता, वह इन कोड़ों ही की ओर दौड़ा, और जिस तरह उसने दान को दाता की हैसियत दे दी थी, उसी तरह उसने नेमतों के इन कारणों को प्रतिशोधी का दर्जा दे दिया। इसकी मिसाल बिलकुल ऐसी है कि एक राजा ने अपनी प्रजा को हर तरह की सुख-शान्ति दे रखी हो, कभी-कभी अपनी शक्तियों का प्रदर्शन करे ताकि प्रजा याद रखे कि जिस राजा के पास सुख-सुविधा के ये सामान हैं उसके अधिकार में सचेत करने और दण्ड देने की ये शक्तियाँ भी हैं। किन्तु प्रजा यह करे कि इन शक्तियों को ही राजा बनाकर इन्हीं का आदर और बन्दगी करने लगे और स्वयं राजा को भूल जाए।

इसी रीति से वे लोग भी पूज्य बन गए जिन्हें उनकी उद्वंडता और बगावत के बावजूद ईश्वर ने इसलिए ढील दी कि वे अपनी नियत अवधि तक पहुँच जाएँ तथा उनके द्वारा लोगों की परीक्षा हो सके जो किसी प्रकार से उनके अधीन हैं कि वे अपनी आत्मा की प्रतिज्ञा पर अडिग रहते हैं या अपने तन-बदन के हितार्थ इन बागियों ही के आगे झुक जाते हैं और इन्हीं की हाँ में हाँ मिलाना शुरू कर देते हैं। इस श्रेणी में इनसानों में से बागी लोग और जिन्नों में के दुराचारी भी शामिल हैं। दुनिया के पूरे इतिहास में ढील और परीक्षा का यह नियम साफ़ नज़र आता है। फ़िरऔन, कारून, हामान, अबू लहब, अबू जहल और उनके मार्ग पर चलनेवाले सभी उद्वण्ड इनसान एक पंक्ति के हैं, और नूह, इबराहीम, मूसा और मुहम्मद (इन सब पर अल्लाह की सलामती हो) और अल्लाह के सभी नेक, एकनिष्ठ और एकेश्वरवादी बन्दे दूसरी पंक्ति में सम्मिलित हैं। यह संघर्ष प्रारंभ से चला आ रहा है और ईश्वर के क़ानून के अनुसार क्रियामत तक चलता रहेगा। कितने ही हैं जो अपनी आत्मा की आवाज़ को सुनते हुए किसी लोभ या किसी शंका के भय से इन दमनकारियों और तागूतों ही की उपासना करने लगते हैं और इन्हीं का कलिमा पढ़ने लगते हैं। किन्तु ईश्वर के कितने ही बन्दे ऐसे भी निकलते हैं जो किसी हाल में भी ऐसा कार्य नहीं करते कि उन्हें अपने ईश्वर और अपनी आत्मा के समक्ष लज्जित होना पड़े। वे न केवल स्वयं ही ईश्वरीय प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहते हैं, बल्कि दूसरों को भी इस पर अडिग रखने का प्रयत्न करते हैं।

बुराई के इस भय ने दुष्टता के सम्मान को एक स्थायी धर्म बना दिया और मजूसियों (पारसियों) ने भलाई और बुराई के दो खुदा मानकर दोनों की उपासना शुरू कर दी। हिन्दुओं ने सांसारिक राज्य-व्यवस्था के ढंग पर जीवन प्रदान करनेवाले, जीवन की रक्षा करनेवाले और जीवन छीन लेनेवाले, एक त्रिदेववाद की स्थापना की। ईरान और हिन्दुस्तान की जातियों ने प्राचीन काल से दर्शन का सम्मिश्रण कर दिया है, अन्यथा ध्यान दें तो यह तथ्य स्पष्ट दिखाई देगा कि उनके यहाँ जो शिर्क पाया जाता है वह भी उन्हीं रास्तों से आया है जिन रास्तों से संसार की दूसरी जातियों के अन्दर आया है। आश्चर्य है कि इन जातियों पर दर्शन का प्रभुत्व होते हुए भी जगत् में पाई जानेवाली वस्तुओं के मध्य, जिनमें परस्पर विपरीत गुण पाए जाते हैं, अनुकूलता का रहस्य स्पष्ट न हो सका जबकि यहाँ प्रत्येक विपरीतता के अन्दर वही उद्देश्य का एकत्व छिपा है जिसे किसी भी जोड़े में देखा जा सकता है। और कुरआन ने इसका अनेकानेक रूपों में वर्णन किया है जिसे विस्तार से हमने अपनी पुस्तक “एकेश्वरवाद की वास्तविकता” में वर्णन किया है।

ये कुछ मिसालें, मात्र पथ-प्रदर्शन हेतु वर्णित की गई हैं। आप मूर्तिपूजा का कोई भी इतिहास उठाकर इस दृष्टिकोण से पढ़ डालिए, आप पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा कि ईश्वर को छोड़कर अन्य की अधीनता व आराधना — चाहे वह मृत खुदाओं की पूजा के रूप में हो या जीवित खुदाओं की बन्दगी के रूप में — वास्तव में यह परिणाम है केवल इनसान की गिरावट का।

इसी गिरावट ही का एक रूप अन्धानुकरण भी है। इनसानों की एक बड़ी संख्या ने न तो कभी खुद तथ्यों पर विचार किया, न दूसरे विचार करनेवालों और ईश्वर के भेजे हुए बन्दों के आह्वान पर ध्यान दिया। उन्होंने बाप-दादा को जिस ढर्रे पर पाया उसपर आँखें बन्द करके चलते रहे। उनको यह काम बड़ा कठिन मालूम हुआ कि बाप-दादा के रास्ते से कोई अलग मार्ग निकालें। किन्तु यदि इनसान पशु नहीं है, बल्कि एक बुद्धिमान और अधिकार और इरादा रखनेवाला प्राणी है तो पशु बन जाना और अपनी बुद्धि को निलंबित कर देना उसकी गिरावट और उसके पतित होने ही का परिणाम हो सकता है।

दुनिया में बहुत-से ऐसे लोग भी हुए हैं, जो आँखें बन्द करके बाप-दादा के मार्ग पर चलनेवाले न थे। बल्कि उन्होंने प्राचीन रीति में बहुत कुछ परिवर्तन किया और अपने विचार और चिंतन के बल पर समय की प्रवाहित धारा का रुख फेर दिया। कुछ ने तो इस मार्ग में बड़ी-बड़ी कुरबानियाँ भी दीं, यहाँ तक कि कुछ साहसी लोगों ने तो विष का प्याला तक पी लिया। इन तमाम बातों के होते हुए भी एकेश्वरवाद का रहस्य उनपर न खुल सका और वे उन्हीं गुमराहियों में भटकते रहे जिनमें उनकी पूरी क्रौम भटक रही थी। इसका वास्तविक कारण यह है कि उनमें बहुतेरे ऐसे थे जो बहुत-सी कठिन घाटियाँ पार करने के बावजूद जातिवाद की घाटी से न निकल सके, जबकि विशुद्ध एकेश्वरवाद को प्राप्त करने के लिए यह शर्त है कि आदमी असत्य के छोटे-से छोटे बन्धन को भी शेष न रहने दे और यह सौभाग्य या तो नबियों को प्राप्त होता है या उन लोगों को प्राप्त होता है जो उनके अनुपालन का साहस जुटा सकें और इस संबंध में उन्हें ईश्वरीय योग भी प्राप्त हो।

ऊपर हमने शिर्क का जो कारण बताया है, कुरआन और प्राचीन ग्रन्थों से इसी की पुष्टि होती है। कुरआन में शिर्क को घोर अत्याचार कहा गया है।

“निश्चित ही शिर्क बहुत बड़ा अत्याचार है।” — कुरआन, 31:13

अत्याचार, न्याय का विलोम है। अत्याचार का अर्थ है किसी का हक मारना। ऊपर यह बात हम विस्तार से बता चुके हैं कि इनसान पर सबसे बड़ा हक खुदा का है। अतः उसके हक में किसी को साझी ठहराना अनिवार्यतः सबसे बड़ा हक मारना है। इस कारण यह घोर अत्याचार हुआ और अधिकार हनन का पतित प्रवृत्ति होना स्पष्ट है। और जितना बड़ा अधिकार-हनन होगा उतनी ही बड़ी नीचता भी होगी। अतः यही कारण है कि प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में मुशरिक की उपमा व्यभिचारी से दी गई है। तौरात में यह विषय जगह-जगह आया है कि खुदावन्द स्वाभिमानी है। जिस प्रकार तुम यह पसन्द नहीं करते कि तुम्हारी पत्नी किसी अन्य पुरुष के संग सोए, उसी प्रकार वह भी पसन्द नहीं करता कि उसका बन्दा किसी अन्य की बन्दगी करे। कुरआन मजीद की पवित्र वर्णन-शैली ने इस उपमा को ज्यों का त्यों तो नहीं अपनाया, लेकिन उसके भाव को बहुत सुन्दरता के साथ ले लिया है।

दो चीजों का सम्मेलन बिना किसी उभयनिष्ठ तत्व के नहीं हुआ करता। इस मूल तथ्य को सामने रखकर जब इनसान विचार करता है तो ज्ञात होता है कि बहुदेववादी पुरुष और कुलटा स्त्री में बड़ा गहरा नैतिक साम्य पाया जाता है। कुलटा एक पुरुष के साथ विवाह तो करती है, उसको अपने सतीत्व का अधिकारी बनाती है, उससे रोटी-कपड़ा, खर्च और तमाम अधिकार प्राप्त करती है और फिर पति के हक का हनन करके अपने सतीत्व को किसी अन्य पुरुष को सौंपती है। ठीक यही हाल बहुदेववादी का होता है। वह ईश्वर को पालनहार तो स्वीकार करता है। 'बला' (हाँ) कहकर उसके साथ अपनी बन्दगी की प्रतिज्ञा करता है। रहता उसके घर में है, खाना उसका खाता है, पानी उसका पीता है, कपड़े उसके दिए हुए पहनता है और उसके पास जो कुछ भी है सब ईश्वर-प्रदत्त है। लेकिन इसके बावजूद वह बन्दगी अन्य की करता है। प्रेम का दम दूसरों के लिए भरता है। यह नैतिक स्थिति एक व्यभिचारिणी की हो सकती है।

कुरआन में यह बात बार-बार आती है कि परमेश्वर समस्त खताओं को जिसके लिए चाहेगा क्षमा कर देगा, मगर शिर्क को माफ़ नहीं करेगा। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि एक सज्जन और स्वाभिमानि पति अपनी पत्नी की हर एक गलती क्षमा कर सकता है, लेकिन उसकी बेवफ़ाई को कदापि क्षमा नहीं कर सकता — यदि वह ऐसा करे तो वह पति नहीं है, बल्कि एक बेहया, कमीना, पतित और निर्लज्ज पशु है। जब इनसान के स्वाभिमान का यह हाल है तो फिर उस ईश्वर के स्वाभिमान की कल्पना कौन कर सकता है, जिसके स्वाभिमान-सौन्दर्य की ज़रा-सी झलक से यह सारा जीवन सञ्चरित्रता और स्वाभिमान के सौन्दर्य से प्रकाशमान हुआ। वह उस बन्दे को कैसे क्षमा कर सकता है जिसने किसी अन्य की बन्दगी का धब्बा अपने दामन पर लगा लिया है। इसी लिए फ़रमाया है—

“वह (ईश्वर) प्रभुत्वशाली, प्रभावशाली, अपनी बड़ाई प्रकट करनेवाला स्वाभिमानि, महान और उच्च है उस शिर्क से जो वे करते हैं।”

—कुरआन, 59:23

इस आयत के अन्दर ईश्वर के सुन्दर नामों में से विशिष्टता के साथ

‘स्वाभिमानी’ होने के गुण पर विचार करना चाहिए और फिर इस बात को देखना चाहिए कि इसके साथ ही उसने किस तरह साड़ीदारों और समकक्षों से अपने को उच्चतर बताया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि जो वास्तविक बड़ा और स्वाभिमानी हैं और जिसके अतिरिक्त किसी को महानता शोभा नहीं देती उसका स्वाभिमान और महानता कभी किसी साड़ीदार को कैसे सहन कर सकती है।

शिरक से किस तरह ईश्वर के अधिकार नष्ट होते हैं, यह संक्षेप में उसका वर्णन था। अब इस पहलू से विचार कीजिए कि शिरक करना स्वयं अपने आप पर भी सबसे बड़ा जुल्म है और इस दृष्टि से भी यह गिरावट और नीचता ही है।

ऊपर के बयान से मालूम होता है कि ईश्वर ने इनसान को जो सम्मान प्रदान किया है और उसको जो शक्तियाँ और योग्यताएँ दी हैं अगर वे दो निर्बलताओं अर्थात् बचपन और बुढ़ापे की लाचारियों के बीच घिरी हुई न होती तो यदि वह फिरौनी (प्रभुता का) दावा भी करता तो आश्चर्य न होता। उसके स्वभाव की उच्चता और सम्पूर्ण विश्व पर श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा का परिणाम यह हो सकता था कि वह किसी की बन्दगी करने के बजाए स्वयं पूज्य बनने का इच्छुक होता। लेकिन इन समस्त महानताओं के होते हुए भी जब वह देखता है कि न मैं स्वयं अपने को इस दुनिया में लाया हूँ, न यहाँ स्वयं के क्रायम रखने में समर्थ हूँ, न मैंने आकाश एवं धरती और उनके बीच किसी चीज़ को बनाया है, न एक मक्खी या भुनगे को बना सकने की भी शक्ति मुझे प्राप्त है, तो वह निर्बलता और लाचारी के भाव कृतज्ञता व प्रशंसा के विनीत भाव के साथ एक अनदेखी हस्ती के आगे स्वयं को डाल देता है। और यह वह इसलिए करता है कि ऐसा करने पर वह अपने को विवश पाता है। इसके बिना न उसकी बुद्धि संतुष्ट होती है और न उसके मन को चैन मिलता है और न इस विश्व की पहेली ही सुलझती है। यह कर चुकने के बाद जहाँ तक उसका स्वयं का सम्बन्ध है उसके मन की सभी परेशानियाँ और बुद्धि की सभी उलझनें दूर हो जाती हैं और विश्व के रहस्य का उद्घाटन करने के लिए वह छोर मिल जाता है जिससे सभी गुत्थियाँ

सुलझ जाती हैं। इसके बाद यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि उस एक ईश्वर के अतिरिक्त कुछ और भी हैं जिनके आगे सिर झुकाना है तो उसका प्रमाण प्रस्तुत करने का भार उस व्यक्ति के ऊपर है। एक एकेश्वरवादी व्यक्ति तो यह कहकर अलग हो जाएगा कि आत्मा की उच्चता ने यह एक के आगे झुकना इसलिए स्वीकार कर लिया कि इसके अतिरिक्त कोई राह न थी और ईश्वर में विश्वास करने के बारे में हम और तुम दोनों सहमत हैं। बाक़ी उसके अतिरिक्त जिनका तुम नाम लेते हो उनका प्रमाण तुम स्वयं लाओ, मुझे अकारण बहुत-से अन्य ईश्वर बनाने में रुचि नहीं है। मेरा तो एक ही प्रभु और मित्र है। जब कोई दास यह पसन्द नहीं करता कि कई स्वामियों की दासता का पट्टा अपनी गर्दन में डाले तो मैं यह अपमान और पतन क्यों सहन करूँ कि बहुत-से प्रभुओं का दास बनूँ। कुरआन में है—

“.....बहुत-से विभिन्न रब अच्छे हैं, या वह परमेश्वर जिसे सब पर प्रभुत्व प्राप्त है।”
—कुरआन, 12:39

“ईश्वर एक मिसाल पेश करता है। एक व्यक्ति तो वह है जिसके कई स्वामी हैं आपस में खींचा-तानी करनेवाले हैं, जो उसे अपनी-अपनी ओर खींचते हैं, और दूसरा व्यक्ति वह है जो पूरे का पूरा एक ही स्वामी का दास है। क्या इन दोनों का हाल एक-सा हो सकता है? प्रशंसा ईश्वर के लिए है, किन्तु अधिकतर लोग अज्ञानता में पड़े हुए हैं।” — कुरआन, 39:29

लेकिन जो नीच प्रकृतिवाले थे उन्होंने अपनी आत्मा का कोई सम्मान नहीं किया और खुदा की ओर से सत्ताधिकार का पद पाकर भी उन्होंने अपने हीन से हीन सेवकों और अपने ही जैसे इनसानों को अपना रब बनाया और अपनी आत्मा का ऐसा अनादर किया जिससे बड़ा अनादर संभव नहीं।

“जिसे ईश्वर अपमानित करे, उसे सम्मानित करनेवाला कोई नहीं।”

— कुरआन, 22:18

“....जो कोई ईश्वर का साझीदार बनाए तो मानो वह आकाश से गिर गया।”

— कुरआन, 22:31

इन आयतों में इसी निरादर और गिरावट की ओर संकेत है।

